पं० बालकृष्ण उपाध्याय के प्रबन्ध से—
श्री नारायण प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर में मुद्रित।

युगत्रये पूर्वमतीतपूर्वे,
जातास्तु जाता खलु धर्ममल्ला ।
अयं चतुर्थो भवताच्चतुर्थे,
धात्रेति सृष्टोऽस्ति चतुर्थमल्लः ॥

सहायकगण की शुभ नामावली

दिवाकर दिव्य ज्योति के नाम से स्व० श्री जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पंडित रत्न मुनि श्री चौथमलजी महाराज के प्रभावशाली व्याख्यान सीरिज रूप में प्रकाशित कराने के लिए निम्नलिखित महानुभावों ने सहायता देकर अपूर्व लाभ लिया, इसके लिए सहर्ष धन्यवाद है—

रुपये—

१००१)	श्री श्वे. स्था. जैन महावीर मण्डल, उदयपुर			
५०१)	श्रीमान् सेठ सिरेमलजी नन्दलालजी पितलिया,			सिहोर की छावनी
५००)	"	"	गुलराजजी पूनमचन्दजी	मदनगंज
३००)	"	"	चौथमलजी सुराणा,	नाथद्वारा
२५०) {	"	"	कुंवर मदनलालजी संचेती,	ब्यावर
	"	"	सेठ जीवराजजी कोठारी,	नसीराबाद
२००)	"	"	शंभूमलजी गंगारामजी बंबई फर्म की तरफ से श्रीमान् केवलचन्दजी सा० चौपड़ा,	सोजत सीटी
१५१)	"	"	चन्दनमलजी मरलेचा शूलाबाजार,	बैंगलोर केन्ट

१५१) " " हजारीमलजी अम्बालालजी सगरावत
मु० निम्बाहेड़ा (राज०)
१५०) " " राजमलजी नन्दलालजी भुसावल
१५०) " " हस्तीमलजी जेठमलजी, जोधपुर
१२५) " जिनगर अमरचन्दजी इन्दरमलजी गौतमचन्द जैन, गंगापुर
१२५) श्रीमान् सेठ कस्तूरचन्दजी पूनमचन्दजी जैन, गंगापुर
१२५) " ठेकेदार तोलारामजी भवरलालजी, उदयपुर
१२५) " " धनराजजी फतहलालजी, "
१२१) " सेठ माणकचन्दजी छगनलालजी गोठी,
ठि: जयलाल मुंशी का रास्ता, प्रेम कुटी, जयपुर
१०१) " जिनगर तेजमलजी रोशनलालजी, गंगापुर (मेवाड़)
१०१) " साहबलालजी मेहता फर्म० गुलाबचन्द भंवरलाल
मेहता धान मन्डी उदयपुर
१०१) " पन्नालालजी बाफणा की पूज्य मातेश्वरी सोहनबाई
उदयपुर
१००) " सेठ लालचन्दजी पुखराजजी मुणोत, सिकन्दराबाद

दो शब्द

एक थे वे आचार्य जवाहिर जिन्हें मैंने गुरुदेव के महान् सिंहासन पर आसीन किया था, जैन जगत में क्रान्ति मचा गये। राजस्थान के वालू के कण और अरावली की घाटियाँ उस महान् आत्मा का आज भी जय घोष करती हुई नजर आती हैं। क्यों न करें, अशान्त विश्व को शान्ति का संदेश देकर उसे सत्य अहिंसा के महान् सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट करने वाली उस महान् विभूति के व्यक्तित्व में ही ऐसा आकर्षण था कि जो एक बार भी उनके सम्पर्क में आया कृतकृत्य हो गया।

किन्तु दूसरी ओर मानवता का मंत्र फूंकने वाली एक महान् आत्मा और भी थी जिसने अपनी ओजस्वी, सरल, सर्वग्राह्य, सुबोध वाणी द्वारा जन-मानस में खलबली मचा दी। वे थे हमारे म० श्री दिवाकरजी! कभी महल की अट्टालिकाओं में उनका उद्घोष सुनाई देता, तो कभी दीन-हीन कृषकों के बीच वे अपने मर्म स्पर्शी शब्दों में मानवता का जय घोष करते हुए नजर आते।

दुर्भाग्य से मैं उस महान् आत्मा को निकट से नहीं देख सका, सम्पर्क साधन द्वारा उस दिव्य ज्योति के दर्शन का लाभ नहीं उठा सका, किन्तु आज जब कभी भी मैं अपने पांवों को

गांवों की गलियों में और नगर की सड़कों पर जाने का आदेश देता हूँ तो मुझे ऐसे बालक-बालिकाओं का समूह सा मिलता है जो अपने मधुर कंठ से "जिन शासन के ताज, गुरु महाराज बड़े उपकारी, मैं बार बार बलिहारी" गा गा कर उस दिवंगत आत्मा की स्मृति को ताजा बना देता है। सत्य है राजस्थान और मध्य भारत की चप्पा चप्पा भूमि दिवाकरजी म० द्वारा प्रकाशित हुई थी। अपने पारस्परिक जाति भेद और अर्थ भेद की दीवारों को तोड़कर सहस्रों नर-नारी जहां भी वे जाते उनके श्री चरणों में उत्सुक नेत्रों से श्रद्धा के पुष्प चढ़ाने को उद्यत रहते थे।

आज उनका भौतिक चोला यहां नहीं है किन्तु धन्य है मंत्री मुनि श्री प्यारचन्दजी म० सा० जो अपने गुरुदेव का वास्तविक स्मृति-स्मारक बनाने का सतत प्रयास कर रहे हैं। "दिवाकर दिव्य-ज्योति" की तीन किरणों को देखकर हृदय को सतोप होता है और सोचता हूँ कि क्या ही अच्छा हो उस प्रज्वलित प्रकाश की ये किरणें मानव मात्र के मानस मे फैले हुए अन्धकार को चीर उसे "वसुधैव कुटुम्बकम्" का सच्चा मत्र सिखाने में सफल हों।

मैं अधिक क्या कहूँ, कहने को है भी क्या? हरिजनोद्धार और जैन एकता के उस प्रतापी प्रचारक के विषय मे राजा रक सब कोई जानते हैं। राजस्थान और मध्य भारत के किसी भी गांव में जाइये, किसी भी घर में पैर रखिये, दिवाकरजी म० की स्मृति नर कंठ पर विराजी हुई आपको दिखाई देगी। उनके द्वारा रचित मधुर संगीत और काव्य पंक्तियां गुनगुनाते समय एक

वार ही क्यों न हो दिवाकरजी म० का भव्य स्वरूप मानव की आंखों के सामने नाच उठता होगा, और वह उसके दर्शन कर उस दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जली अर्पित करने में गौरवानुभव करता होगा।

बस लेखिनी को यहीं विश्राम देता हूँ और चाहता हूँ कि "दिवाकर दिव्य ज्योति" का यह प्रकाशन घर घर में पहुंच कर संकीर्णता का संहार करता हुआ मानवता का दिव्य सन्देश सुनाने में सफलीभूत बनें। आशा है मेरी शुभ कामनाएँ अपना वास्तविक स्वरूप प्रकटा कर मुझे आनन्दित करेंगी।

जन्माष्टमी,
भोपाल प्लॉट (उदयपुर)
ता० १३-८-१९५२

—मुनि श्रीमल
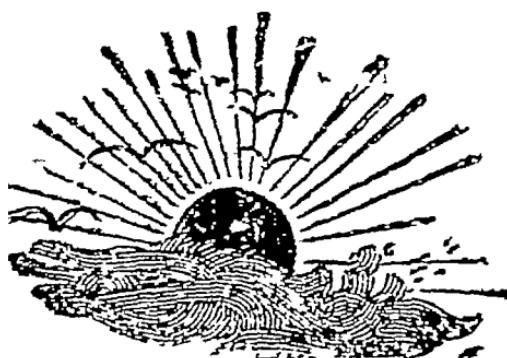
★ प्रकाशकीय-निवेदन ★

प्रात.स्मरणीय जैन दिवाकर गुरुदेव श्री चौथमलजी महाराज "प्रसिद्ध वक्ता" के नाम से प्रसिद्ध थे। उनके व्याख्यान अत्यन्त रोचक, सरस, सरल और नैतिक एवं धार्मिक उपदेशों से परिपूर्ण होते थे। लाखों श्रोताओं ने उनकी पवित्र वाणी सुनकर अपना जीवन कृतार्थ किया है। खेद है तारीख १७-१२-५१ को कोटा नगर में गुरुदेव स्वर्ग सिधार गये! हमारे लिए यह बड़े से बड़े दुर्भाग्य की बात थी। गुरुदेव के कतिपय स्थानों के व्याख्यान संकेत लिपि द्वारा लिपि बद्ध करा लिये गये थे। उन्हीं व्याख्यानों को सम्पादित करवा कर आज "दिवाकर दिव्य ज्योति" के रूप में हम पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहे हैं।

"दिवाकर दिव्य ज्योति" का यह चतुर्थ प्रकाश है। अगले कुछ प्रकाश भी सम्पादित होकर तैयार हो चुके हैं और आशा है कि पाठकों के कर-कमलों में उन्हें भी हम यथा-सभव शीघ्र ही उपस्थित कर सकेंगे। गुरुदेव की यही एक स्मृति अवशेष रह गई है जिसके सहारे हम अपने जीवन को उन्नत और पवित्र बना सकते हैं! अतएव पूर्ण विश्वास है कि पाठक दिवाकर दिव्य ज्योति को उसी भाव से अपनायेंगे, जिस भाव से उनके व्याख्यानों को अपनाते थे।

इन व्याख्यानों का सम्पादन पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल सम्पादन कला विशारद ने किया है। सम्पादित होने के पश्चात् साहित्य रत्न विद्वद्वर मुनि श्री प्यारचन्दजी महाराज ने इनका आद्योपान्त सिंहावलोकन और आवश्यक संशोधन भी किये हैं। मुनि श्री जैन दिवाकरजी महाराज के प्रधान शिष्य हैं, और प्रवचनों के रूप में उनकी स्मृति को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील हैं। वास्तव में आपकी गुरु भक्ति इस युग में एक सुन्दर एवं आदर्श उदाहरण है जो प्रत्येक के लिए अनुकरणीय है। मुनि श्री ने तथा पं० वर्य मुनि श्री कस्तूरचन्दजी म०, शास्त्रज्ञ पं० मुनि श्री सहस्रमलजी महा०, प्रसिद्ध वक्ता प० मुनि श्री रामलालजी म., पं० रत्न मुनि श्री प्रतापमलजी म०, पं० मुनि श्री हीरालालजी म., साहित्य रत्न मुनि श्री मगनलालजी म०, मनोहर व्या० मुनि श्री चम्पालालजी म०, सा० रत्न मुनि श्री केवलचन्दजी महा०, सा० रत्न मुनि श्री मोहनलालजी म०, व्या. मुनि श्री हुक्मीचन्दजी म०, तपस्वी विजयराजजी म०, व्या० मुनि श्री वर्धमानजी म०, सेवाभावी मुनि श्री मन्नालालजी म०, प्रभाकर व्या० मुनि श्री चन्दनमलजी म०, सा० विशारद मुनि श्री विमलकुमारजी म०, धर्म भूषण मुनि श्री मूलचन्दजी महा० सा० रत्न अवधानी श्री अशोक मुनिजी महाराज आदि मुनिराजों ने इसमें संशोधन सिंहावलोकन प्रेरणा और उचित मार्ग दर्शन किया है। उसके लिए अतीव आभारी हैं। जिन उदार श्रीमन्तों की आर्थिक सहायता से सम्पादन–प्रकाशन का कार्य आरम्भ और अग्रसर हो सका है, उनकी नामावली पृथक् दी जा रही है। उनके प्रति भी हम अत्यन्त आभारी हैं।

यहाँ इतना निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि गुरुदेव के व्याख्यानों के प्रकाशन का कार्य विराट है और एक सीरीज के रूप में वह चालू हो रहा है। अतएव ज्योति की एक २ प्रति अपने वाचन में रखकर गुरु-भक्ति का परिचय तथा इस महान् कार्य में प्रेरक बनकर अनुष्ठान में आप सहायक होंगे। गुरुदेव की शिक्षाएं जीवन को ऊंचा उठाने वाली और सारगर्भित हैं। आशा है पाठक इनसे पूर्ण लाभ उठाएंगे और इनका अधिक से अधिक प्रचार करने में सहायक होंगे। प्रकाशन में अगर किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो और सावधानी रखने पर भी कोई बात आगम से न्यूनाधिक हो गई हो तो विद्वज्जन सूचना करने की कृपा करें ताकि अगले संस्करण में संशोधन किया जा सके।

निवेदकः—

देवराज सुराणा
अध्यक्ष,

अभयराज नाहार
मंत्री,

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय,
ब्यावर (राज०)

प्रस्तावना

★★★

जिन महापुरुष के प्रवचनों के संग्रह में से यह चतुर्थ पुष्प पाठकों के कर कमलों में पहुँच रहा है, उनके सम्बन्ध में यहां कुछ अधिक लिखना न तो आवश्यक है और न प्रासंगिक ही। उन्हें स्वर्गासीन हुए अभी एक ही वर्ष हो रहा है। गत वर्ष दिसम्बर मास में ही कोटा में उन्होंने महाप्रस्थान किया था। अतएव शायद ही कोई ऐसा पाठक होगा जो उन महापुरुष से परिचित न हो। पचास वर्ष से भी अधिक की अपनी संयम-साधना के दीर्घ काल में वे भारत के विभिन्न प्रदेशों में विचरे थे और अपने अद्भुत प्रभाव से जनसमाज को उन्होंने आकर्षित किया था। उनका व्यक्तित्व अनूठा था, उनके नेत्रों से करुणा का असाधारण प्रवाह बहता था, उनके हृदय में नवनीत की कोमलता थी, उनकी वाणी मे सुधा की मधुरता थी, उनके समग्र जीवन व्यवहार में सरलता, संयतता और भद्रता का प्रशस्त सम्मिश्रण था। इन सब विशेषताओं के कारण कोटि-कोटि जनता के वे श्रद्धाभाजन बन सके थे। 'गुरुदेव' और 'जैन दिवाकरजी' के नाम से वे सर्वत्र प्रख्यात हुए। क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या राजा और क्या प्रजा, क्या नर और क्या नारी, सभी के लिए उनकी जीवनी आज आदर्श है। आज उनके पावन व्यक्तित्व की स्मृति मात्र से हृदय अधीर हो उठता है।

गुरुदेव प्रायः प्रतिदिन प्रातःकाल प्रवचन किया करते थे। प्रवचन करने की उनकी शैली अद्वितीय थी। उनके कोमल कण्ठ

में न जाने क्या जादू भरा था कि जो एक दिन भी उनके प्रवचन को सुन लेता, वही उनका पुजारी बन जाता था! मगर पुजापे की उन्हें चाह नहीं थी। कभी मांगते तो बस एक ही चीज मांगते थे—दान करो, शील पालो, तप करो, सुन्दर भावना रखो। यही उनका चढ़ावा था। इस प्रकार जैन दिवाकरजी ने लेना नहीं, सिर्फ देना ही देना सीखा था। वे जब तक जीवित रहे, दुनियां को अनमोल भेंट, अपने प्रवचनों द्वारा भी और अपने जीवन-व्यवहार द्वारा भी, देते ही रहे।

जैन दिवाकरजी संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और फारसी भाषाओं के विद्वान थे। उनका शास्त्रीय ज्ञान काफी गहरा था। दूसरे साहित्य का अध्ययन भी विशाल था। फिर भी उनके प्रवचनों की भाषा बहुत सरल होती थी इतनी सरल कि अक्षर ज्ञान से शून्य देहाती जनता भी उसे बिना किसी दिक्कत के सहज ही समझ लेती थी। भाषा की सरलता के साथ शैली की उत्तमता का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ था। वे जो कहते, बड़े मनोरंजक ढंग से कहते थे। अपने श्रोताओं को जिस किसी भावना के रस में डुबाना चाहते, उसी में सफलता के साथ डूबा देते थे। उनका भाषण सचमुच बड़ा प्रभावशाली होता था।

गुरुदेव के उपदेशों से प्रभावित होकर सहस्रों नर-नारियों ने अपने जीवन का सुधार किया है। राजस्थान के राजाओं, जागीरदारों और जमींदारों में उनका मान उतना ही था, जितना लगभग जैनसमाज में। यही कारण है कि गुरुदेव के प्रवचनों से प्रभावित होकर बहुतों ने जीवहिंसा का त्याग किया, शिकार खेलना छोड़ा, शराब पीना छोड़ा, मांसभक्षण छोड़ा, बहुतों ने बीड़ी-

सिगरेट आदि मादक द्रव्यों का परित्याग किया। इससे कोई यह न समझे कि जैन-दिवाकरजी उच्च वर्ग के ही गुरुदेव थे। नहीं, तेली, धोबी, कुम्भार, रेगर, मोची आदि कौमों में भी उनका वैसा ही मान था। इन कौमों से सैकड़ों आदमियों ने गुरुदेव की सगति करके अपनी आदतों को सुधार कर अपने जीवन को उन्नत बनाया है। कहां तक कहें, वर्ण, जाति आदि के भेद-भाव के बिना उन्होंने प्राणी मात्र पर असीम अनुकम्पा बरसाई है। उनके पावन प्रवचनों को सुनकर अगणित मनुष्यों ने मनुष्यता पाकर अपने को धन्य बनाया है।

गुरुदेव के प्रवचनों को संकेत लिपि में श्री धर्मपालजी मेहता द्वारा लिपिबद्ध कर लिया गया था। वही प्रवचन जैन तत्व मर्मज्ञ संपादन कला विशारद पंडित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल द्वारा सम्पादित होकर 'दिवाकर दिव्य ज्योति' नामक सीरीज के रुप में प्रकाशित हो रहे हैं। इस चतुर्थ पुष्प के बाद शीघ्र ही अगले पुष्प भी पाठकों के हाथों में पहुँच जाने की आशा है।

प्रत्येक प्रवचन आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव की स्तुति से प्रारम्भ होता है। गुरुदेव भक्तामर स्तोत्र के एक पद्य से अपना प्रवचन प्रारम्भ करते थे। उसी पर विवेचन करते हुए अपने अभीष्ट विषय पर जा पहुंचते थे और अन्त में प्राय. किसी चरित्र पर व्याख्यान करते थे। चरित का व्याख्यान भी उपदेशों से परि-पूर्ण होता था। बीच-बीच में सुन्दर उपदेश फरमाते हुए चरित-व्याख्यान को वे अग्रसर किया करते थे। उनकी उसी मौलिक शैली को सुरक्षित रखते हुए व्याख्यानों का सम्पादन किया गया है।

गुरुदेव वक्ता होने के साथ कवि भी थे। उनके द्वारा विरचित पद्य-साहित्य काफी विशाल है। अकसर वे अपने प्रवचनों में

अपने ही रचे हुए पद्यों को सुनाया करते थे। इससे श्रोताओं का मन ऊबता नहीं था और वे अन्त तक एक रस होकर मुग्ध-भाव से प्रवचनों का श्रवण करते रहते थे। आवश्यकतानुसार संस्कृत प्राकृत और उर्दू आदि भाषाओं के पद्यों का भी समावेश होता था जैसा कि पाठक इन प्रवचनों में पाएंगे।

जैन दिवाकरजी के प्रवचन सार्वजनिक होते थे। बहुजन-हिताय, बहुजनसुखाय, ही उनकी समस्त प्रवृत्तियों का मूल आधार था। अर्थात् अधिक से अधिक जनता की भलाई के लिए ही वे प्रयत्नशील रहते थे। जनसमाज का हित सदाचार से ही हो सकता है, अतएव सूक्ष्म तत्व विवेचना की अपेक्षा उनके प्रवचनों में सदाचार के प्रति प्रेरणा ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। ज्ञान के साथ जीवन को ऊचा उठाने वाले आचार की ओर ही वे अधिक ध्यान आकर्षित किया करते थे। संभवत. उनकी सूक्ष्म दृष्टि से भारतीय जनता की आचारहीनता-जो दिनोंदिन बढ़ती चली जाती है- छिपी नहीं रह गई थी और वे इस त्रुटि को दूर करना चाहते थे।

दिवाकरजी की सुधास्राविणी वाणी आज भी हमारे कर्ण-कुहरों में गूज सी रही है। हमें वर्षों तक उनकी वाणी को श्रवण करने का सौभाग्य मिला है। परन्तु जिन्हें उनकी वाणी सुनने का अवसर नहीं मिला है उनके तथा भविष्य मे होने वाली प्रजा के हित के लिए उनके प्रवचनों का सुरक्षित रह जाना अतीव उपयोगी है। उनकी सुरक्षा में जिन-जिन महानुभावों ने योग प्रदान किया है वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं और भावीप्रजा के आशीर्वाद के भी पात्र बनेंगे।

व्यक्ति का असली व्यक्तित्व उसके आचार विचार में ही है। महान् से महान् व्यक्ति का शारीरिक ढाचा तो वैसा ही होता है

जैसा साधारण से साधारण आदमी का। फिर भी दोनों में जो अन्तर है, वह उनके आचार विचार का ही है। इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो कहा जायगा कि गुरुदेव का असली व्यक्तित्व, उनका अन्तर्जीवन, उनके उच्च और पवित्र आचार-विचार में ही निहित था। दुर्भाग्य से आज हम उनके आचार को नहीं देख सकते, मगर सौभाग्य से उनके विचार आज भी इन प्रवचनों के रूप में हमें सुलभ हो रहे हैं। अतएव कहना चाहिए कि इन प्रवचनों के रूप मे आज भी गुरुदेव जीवित हैं और जब तक पृथ्वीतल पर यह प्रवचन मौजूद रहेंगे, गुरुदेव भी जीवित रहेंगे। प्रवचनों के शब्द-शब्द में गुरुदेव की आत्मा गूंज रही है। इनके अक्षर-अक्षर में गुरुदेव समाये हुए हैं। यह सारे प्रवचन उनके अन्तःजीवन के प्रतिबिम्ब हैं। यह उनके सच्चे स्मारक ही हैं। इनके प्रचार से बढ़कर गुरुदेव के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदन करने का और कोई तरीका नहीं हो सकता। गुरुदेव की दिवंगत आत्मा को यह जान कर अवश्य सन्तोष होगा कि उनका आरंभ किया हुआ कार्य आज समाप्त नहीं हो गया है। वे अन्तिम समय तक जो प्रचार करते रहे, वह आज भी जारी है।

अन्त में हम उन सबको जो गुरुदेव को 'अक्षर' रूप में जीवित रखने का प्रयास कर रहे है, अपनी मर्यादा में रहते हुए धन्यवाद देना चाहते हैं और आशा करते हैं कि गुरुदेव के भक्तगण विशेष रूप से दिलचस्पी लेकर गुरुदेव के उपदेशों को घर-घर में पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे, जिससे गुरुदेव का उपकार-कार्य यथावत् जारी रह सके और जगत् का कल्याण हो।

साहित्य रत्न केवलमुनि
साहित्य रत्न मोहनमुनि
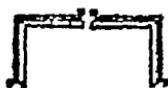
विषय सूची

ब्रह्मचर्य

स्तुतिः—

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पम्,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तम्,
त्वन्नामकीर्त्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहां तक स्तुति की जाय? भगवन्! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ?

भगवान्! ऋषभदेवजी के परम पावन नाम का स्मरण करने वाला प्राणी समस्त दुःखों से सदा के लिए सर्वथा छुटकारा

पा लेता है। मान लीजिए, कोई पुरुष जंगल में गया है। वहां पहुँचने के पश्चात् वह अचानक दावानल में फँस गया। वह एक जगह खड़ा है और उसके चारों ओर लपलपाती हुई आग धधक रही है। वह जिधर दृष्टि दौड़ाता है, उधर आग ही आग नजर आती है। जैसे समुद्र के बीच में जहाज के चारों ओर पानी ही पानी दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार उस मनुष्य को जगल मे दूर-दूर तक आग ही आग दिखाई देती है। और वह आग भी मामूली नहीं है, ऐसी भयकर है मानों प्रलय काल की हो और उसे भी हवा ने और अधिक भड़का दिया है। उस आग से बड़े-बड़े स्फुलिग ऊपर की ओर उठते हैं और आग्नेय बाणों की तरह जलते हुए दूर-दूर तक चले जाते हैं। उस आग को देखकर ऐसा लगता है कि मानों वह सारे संसार को भस्म कर डालेगी। ऐसी भयकर और प्रचड आग के बीच मे फसा हुआ कोई मनुष्य अगर भगवान् के नाम का कीर्तन करता है तो वह विराट अग्नी उसी समय शान्त हो जाती है। 'ॐ उसभ, ॐ उसभ, ॐ उसभ!' इस प्रकार भगवान् का स्मरण रूपी जल उस विकराल आग को तत्काल ही शान्त कर देता है।

आत्मा में अचिन्त्य अतर्क्य शक्ति है। उस शक्ति का अनुमान करना कठिन है। फिर जो आत्मा पूर्णता प्राप्त कर चुकी है अर्थात् परमात्मा बन चुकी है, उसके संबंध में तो कहना ही क्या है! भगवान् ऋषभदेव परिपूर्ण परमात्मा हैं। साक्षात् परमात्मा का तो कहना ही क्या, परमात्मा के नाम में भी अद्भुत महिमा है। भगवान् के नाम की उसी महिमा का यहां आचार्य महाराज ने उल्लेख किया है।

भाइयो ! सम्पूर्ण जगल दावानल से सुलग उठता है, मगर जंगल में दावानल सदैव नहीं सुलगा रहता कभी-कभी वृक्षों की आपस की रगड़ से या किसी मनुष्य के द्वारा एक जगह आग लगाने से दावानल प्रज्वलित होता है। मगर जरा इस ससार की ओर दृष्टि डालिए। ससार में निरन्तर प्रतिपल राग और द्वेष की भयावनी आग भड़की ही रहती है। यह आग अनादि काल से जल रही है, कभी क्षण भर के लिए भी शान्त नहीं हुई। इसी-लिए ससार के विषय में शास्त्रों में कहा है—

आलित्ते णं भंते ! लोए,
पलित्ते णं भंते ! लोए,
आलित्त–पलित्ते णं भंते लोए।

अर्थात्–भगवन् ! ससार चहुँ ओर से जल रहा है, ससार प्रज्वलित हो रहा है और बहुत तेजी के साथ जल रहा है।

संसार में राग और द्वेप की दोहरी आग जल रही है। कहीं राग की आग का संताप फैला हुआ है तो कहीं द्वेप का दावानल दहक रहा है। कोई प्रिय-वियोग की विकट वेदना से व्याकुल बना हुआ है तो कोई अप्रिय-सयोग के कारण सताप का अनुभव कर रहा है। इस प्रकार अखिल लोक मे अशांति की ही आग दृष्टिगोचर हो रही है।

आखिर इस व्यापक आग से छुटकारा पाने का उपाय क्या है ? कौन-सा वह स्थल है कि जहां पहुँच कर जीव शांति का अनुभव कर सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर महत्त्वपूर्ण है और

प्रत्येक विवेकवान मनुष्य को वह उत्तर खोजने और जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

दुःख रूपी दावानल से बचने के लिए लोग नाना प्रकार के उपाय किया करते हैं। एक तरह से देखा जाय तो प्राणी मात्र की तमाम चेष्टाओं का एक मात्र उद्देश्य यही है कि दुःख से बचा जाय और सुख प्राप्त करने का उपाय किया जाय। यहाँ तक तो सब ठीक-ठाक है। मगर इससे आगे जो कदम उठाये जाते हैं, वहीं गड़बड़ी हो जाती है। दुःख क्या है और किस कारण से वह उत्पन्न हुआ है, यह बात जब तक सही तौर पर न समझ ली जाय तब तक दुःखों से बचाव नहीं हो सकता। इस तथ्य को भलीभांति न समझने के कारण लोग अनेक उलटी चेष्टाए करते हैं वे दुःखों से छुटकारा पाने के लिए ऐसे ऐसे उपाय करते हैं, जिनसे दुःख और अधिक-अधिक बढते चले जाते हैं। आखिर बीमारी का स्वरूप और निदान जाने बिना ठीक चिकित्सा किस प्रकार हो सकती है ? जो बीमारी के कारण और स्वरूप को समझे बिना यों ही मनमानी दवा सेवन करते हैं, वे अपने आपको बड़ी खतरनाक हालत मे डाल लेते हैं। ठीक इसी प्रकार जो दुःख के कारणों को यथार्थ रूप से नहीं समझते, वे उलटे-उलटे उपचार करके अपने दुःखों को और अधिक बढ़ा लेते है।

दुःख क्या है ? और उसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? यह विषय बहुत लम्बा है, पर संक्षेप में ही मैं यहाँ बतलाने का प्रयास करूँगा। आप जरा गहराई से सोचेंगे तो मालूम होगा कि दुःख कोई स्थूल वस्तु नहीं है। दुःख न कांटे में है, न बीमारी में है, न तलवार-भाले में है और न दरिद्रता अथवा इष्ट और

प्रिय समझे जाने वाले कुटुम्बी-जनों के वियोग में है। दुःख तो मन की एक प्रकार की संवेदना है–भावना है। जब कोई मनुष्य किसी घटना को अप्रिय समझता है और उसके विषय में प्रतिकूल अनुभव करता है तो वही घटना दुःख का कारण बन जाती है। अगर उस घटना को प्रतिकूल अनुभव न किया जाय तो वह दुःख उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती। एक बालक तीव्र उत्साह में आकर दौड़ता है। रास्ते में उसे कहीं ठोकर लग जाती है। वह गिर पड़ता है और चोट को चोट न समझ कर हँसता हुआ, फिर आगे दौड़ जाता है। उस अवस्था मे वह चोट उसे दुःख-रूप नहीं मालूम होती। वही लड़का जब उत्साह में नहीं होता, निराशा से घिरा होता है और साधारण सी चोट उसे लगती है तो दुःख का अनुभव करता है और रोने लगता है।

यह बालकों की बात हुई। बड़ों के संबंध में भी यही बात है। किसी के मुंह से, क्रोध मे गाली सुन कर मनुष्य को गहरा क्रोध और दुःख होता है; मगर ससुराल मे जाकर वही मनुष्य गालियां सुन कर प्रसन्न होता है। अगर सचमुच गाली में दुःख होता तो ससुराल में गाली सुनने से भी दुःख होना चाहिये था। इससे यही नतीजा निकलता है कि दुःख न तो चोट मे है और न गाली में है; दुःख मन की भावना मे है। जब मनोवृत्ति समभाव-मयी बन जाती है, संसार की कोई भी घटना और किसी बाह्य वस्तु का संयोग-वियोग मन पर असर डालने में समर्थ न होता; तब मनुष्य को दुःख का स्पर्श नहीं हो सकता। श्री उत्तराध्ययन शास्त्र मे नमि राजर्षि का वर्णन आया है। नमिराज के वैराग्य की परीक्षा करने के लिए इन्द्र आता है। वह कहता है–राजन्! आपकी मिथिला नगरी जल रही है और आप चुपचाप यहां योग

धर कर बैठे हैं। जाओ, पहले मिथिला की आग बुझाओ और फिर दीक्षा लेकर साधु बनना। यह सुन कर नमिराज ने ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र से क्या कहा था ? उन्होंने कहा—

मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचणं ।

अर्थात्—मिथिला के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता।

यह वैराग्यमय समभाव की मुखरित वाणी है। जो साधक अपने आपको संसार के समस्त पदार्थों से पृथक अनुभव करने लगता है, जो पर पदार्थों को अपना नहीं समझता और आत्मा के स्वरूप में ही रमण करने लगता है, वह बाह्य पदार्थों के आने से अथवा जाने से, उत्पन्न होने से अथवा नष्ट होने से किंचित् भी प्रभावित नहीं होता। अतएव वह हर्ष और विषाद से ऊपर उठ जाता है, बाह्य पदार्थों के निमित्त से होने वाले सुख-दुःख उसकी अन्तरात्मा को छू भी नहीं सकते। इससे यह बात भली-भांति समझ में आ सकती है कि दुःख मात्र हृदय की एक अनुभूति है और उसकी उत्पत्ति पर-पदार्थों में अपनेपन का संबंध स्थापित करने से होती है।

दुःख का स्वरूप और दुःख के कारण को समझ लेने पर उससे छूटने का उपाय भी सहज ही मालूम हो सकता है। अज्ञानी जीव दुःखों से मुक्त होने के लिए ऐसे उलटे उपाय करता है, जिनसे दुःखों की वृद्धि होती है। वहाँ पर पदार्थों को जुटा-जुटा कर दुःख का प्रतीकार करना चाहता है किन्तु ज्यों ज्यों वह उन्हें जुटाता जाता है, त्यों-त्यों उसकी व्याकुलता, अशान्ति और परिणाम स्वरूप दुःखों में भी वृद्धि होती जाती है।

दुःखों के दावानल से बचने का सच्चा मार्ग यह है कि निर्ग्रन्थों के प्रवचन की शरण ली जाय। राग और द्वेष के दावानल को शान्त करने के लिए निर्ग्रन्थ-प्रवचन लोकोत्तर अमृतवर्षा करने वाले मेघ के समान है। राग-द्वेष का नाश हो जाने पर दुःख का सहज ही विनाश हो जाता है।

भाइयो! भगवान् ऋषभदेव का नाम अगर दावानल को शान्त कर देता है तो भगवान् के द्वारा प्रदर्शित मार्ग राग द्वेष रूपी दावानल को शान्त कर देता है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन-सप्ताह का यह तीसरा दिन है। परसों और कल के व्याख्यानों में आपको उसके छठे अध्ययन तक के विषयों का संक्षेप में परिचय दिया गया है। निर्ग्रन्थ प्रवचन के सातवें अध्ययन में गृहस्थ धर्म के विषय मे निरूपण किया गया है। गृहस्थ धर्म का विवेचन बहुत विस्तृत है। उसका व्याख्यान करने चलूं तो पूरा सप्ताह उसी में लग जायगा, फिर भी वह विवेचन पूरा होगा या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। अतएव इस विषय को फिर किसी समय के लिए छोड़ कर सिर्फ निर्ग्रन्थ प्रवचन के विषय का उल्लेख करके ही आगे बढ़ने का विचार है।

आठवें अध्ययन में भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम! समस्त धर्मों का मूल ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य सब धर्मों में ऊँचा है। ब्रह्मचर्य के समान कोई दूसरा धर्म नहीं है। दुनिया में जप और तप का एक साथ नाम लिया जाता है। कई लोग जप करते हैं और कहते हैं—महाराज, हमें जप करते-करते इतने वर्ष हो गये, मगर अभी तक कोई सिद्धि नहीं हुई! मगर उसे समझना चाहिए कि उसने

जप तो किया है, मगर जप के साथ तप नहीं किया। तप के बिना सिद्धि कैसे हो सकती है?

ब्रह्मचर्य उत्तम तप है, सब तपस्याओं में यह श्रेष्ठ तपस्या है। भगवान् ने फर्माया है:—

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं।

यों तो सभी तप उत्तम हैं और देश, काल एवं पात्र के अनुसार सभी की विशेष उपयोगिता है, मगर ब्रह्मचर्य तप सभी तपों में उत्तम है।

साधारणतया लोक में ब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्य रक्षा प्रचलित है। यह अर्थ गलत है, यह तो नहीं कहा जा सकता, मगर यह जरूर कहा जा सकता है कि यह अर्थ पूर्ण अर्थ नहीं है। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल स्पर्शेन्द्रिय का संयम नहीं, वरन् समस्त इन्द्रियों का संयम है। इतना ही नहीं, किन्तु समस्त इन्द्रियों का संयमन करके ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चर्या करना अर्थात् विचारना सच्चा ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की यह पराकाष्ठा है। इस पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिए स्पर्शनेन्द्रिय के संयम से शुरुआत करनी पड़ती है।

ब्रह्मचर्य अन्यान्य व्रतों की तरह दो प्रकार है—(१) देश-ब्रह्मचर्य और सकल ब्रह्मचर्य। गृहस्थ जन, जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने में समर्थ नहीं हैं, देश ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। और संसार के त्यागी, गृहस्थाश्रम का त्याग कर देने वाले मुनि-जन सकल ब्रह्मचर्य अथवा पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। लौकिक विधि के अनुसार नीतिपूर्वक विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों को माता, भगिनी और पुत्री के समान समझना

देश ब्रह्मचर्य है। देश ब्रह्मचर्य गृहस्थ का आभूषण है। जो गृहस्थ देश ब्रह्मचर्य का भी पालन नहीं करते उनका शतमुखी पतन हुए विना नहीं रहता। वे अपने परलोक को नहीं विगाड़ते हैं किन्तु इह लोक को भी घोर दुःखमय वना लेते हैं। परस्त्री की कामना करने वाला, परस्त्री की ओर विकार भरी दृष्टि से देखने वाला, परस्त्री को देख कर कुचेष्टाएँ करने वाला और परस्त्री को भ्रष्ट करने वाला पुरुष घोर पातकी है। वह अपनी ही प्रतिष्ठा को कलंकित नहीं करता, वरन् अपने कुल और परिवार को भी कलंक लगाता है। वह अपने पुरुषाओं के निर्मल यश को भी कलंकित करता है। वह गंदगी का कीड़ा सब की नजरों में गिर जाता है। सभी उससे घृणा करते हैं। उसके परिवार के लोग भी उसका मुख देखना पसंद नहीं करते। वह जहां कहीं जाता है अपमान और तिरस्कार का पात्र वनता है। भूल कर भी उस पर कोई विश्वास नहीं करता।

परस्त्रीलोलुप पुरुष की अधमता का वर्णन नहीं किया जा सकता। एक भयानक दुर्गुण की बदौलत उसमें सभी बड़े-बड़े दुर्गुण आ जाते हैं। व्यभिचार का पाप सभी पापों का जनक है। हिंसा वह करता है, झूठ, चोरी, कपट आदि सभी पाप उसके हृदय में घर कर लेते हैं। इस प्रकार यह पाप मनुष्य के जीवन को पतित और वर्बाद कर डालता है।

सोने की लंका के स्वामी और प्रतापशाली राजा रावण को किस चीज की कमी थी? हजारों राजा उसके इशारे पर नाचते थे। वैभव का तो कहना ही क्या है? मंदोदरी जैसी सुन्दरी नारियां उसके अन्तःपुर को सुशोभित करती थीं। बड़े-बड़े वीर

योद्धा उसके नाम से काँपते थे। पर ऐसे वीर रावण का विनाश क्यों हुआ? उसने परस्त्रीगमन नहीं किया, सिर्फ परस्त्रीगमन करना चाहा था। अब आप विचार करो कि जिस पाप का सेवन करने की इच्छा मात्र से रावण जैसे महान् सम्राट् को अपने राज्य से ही नहीं, अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा, उस पाप के सेवन से साधारण मनुष्य की क्या हालत न होगी?

भाइयों! जैसे ब्रह्मचर्य सब व्रतों में उत्तम है उसी प्रकार व्यभिचार सब पापों में बड़ा है। इसके कई कारण हैं। उनमें से एक कारण यह भी है कि और-और पापों की तरह यह पाप तत्काल समाप्त नहीं हो जाता, किन्तु इसकी परम्परा लम्बी चली जाती है। अतएव गृहस्थों के लिए भगवान् ने स्वपत्नीसन्तोष या परस्त्रीत्याग रूप अणुव्रत फर्माया है।

साधुजनों के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। साधुता का प्रारम्भ ही तभी होता है जब पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ग्रहण की जाती है। पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लिए बिना साधुत्व का ऊँचा पद प्राप्त नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। ब्रह्मचारी को सतत जागृत रहना पड़ता है। कभी थोड़ी देर के लिए भी अगर प्रमाद या असावधानी में पड़ जाय तो उसकी साधना रूपी निधि के लुट जाने की संभावना रहती है। इसी कारण वीतराग प्रभु ने ब्रह्मचारी के लिए कई नियम आवश्यक बतलाये हैं। उसे जिन-जिन बातों का ध्यान सदैव रखना चाहिए, उन पर मैं संक्षेप में प्रकाश डालता हूँ।

(१) जिस साधक ने ब्रह्मचर्य रूप श्रेष्ठ तप को धारण किया है, उसे यदि बस्ती में रहना पड़े तो शुद्ध मकान में रहना चाहिए। शुद्ध मकान का अभिप्राय यह है कि उसमें औरते, मादा पशु अर्थात् गाय भैंस, गधी, बकरी आदि और नपुन्सक न रहते हों। जिसमें इन सब का निवास न हो वही मकान ब्रह्मचारी के लिए शुद्ध-रहने योग्य माना गया है। जो लोग शुद्ध मकान में रहने का ध्यान नहीं रखते, उनके ब्रह्मचर्य की रक्षा होना कठिन हो जाता है।

(२) दूसरी बात यह है कि ब्रह्मचारी को स्त्रियों की कथा नहीं करनी चाहिए। अमुक स्त्री का रूप ऐसा है, वैसा है, अमुक की नाक और मुख अथवा नेत्र ऐसे हैं, बहुत सुन्दर है ऐसी बात चीत भूल कर भी नहीं करनी चाहिए। कोई कह सकता है कि बातचीत करने में क्या रक्खा है? बातें करने से कैसे ब्रह्मचर्य बिगड़ जायगा? परन्तु ऐसी बात नहीं है। इमली या नींबू का नाम लेते ही मुंह मे पानी भर आता है। इसी प्रकार स्त्रियों सबंधी बात चीत करने से मन ठिकाने नहीं रहता हैं। जो स्त्री आदि के साथ एक मकान मे रहता है अथवा स्त्रियों की चर्चा वार्ता करता है, उसका ब्रह्मचर्य बिगड़ जाने की पद-पद पर सम्भावना बनी रहती है। जहां ऐसी वातें हों, समझना चाहिए कि वहां खाली म्यान है, म्यान मे तलवार नहीं है। पुरुष के लिए स्त्री का ससर्ग और स्त्री के लिए पुरुष का सामीप्य सिवाय हानि के और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता।

(३) जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो और फिर उठ कर चली गई हो, उस स्थान पर दो घड़ी तक ब्रह्मचारी पुरुष को नहीं

बैठना चाहिए। इसी प्रकार ब्रह्मचारिणी नारी को, जहां पुरुष बैठा हो और फिर उठ गया हो, वहां दो घड़ी तक नहीं बैठना चाहिए। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए बड़ी ही सावधानी रखनी चाहिए। किसी भी नियम या मर्यादा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जैसे गेहूँ के आटे में भूरा कोला रखने से उसका बन्ध नहीं होता अथवा चावलों के पास कच्चा नारियल रख देने से उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री और पुरुष अगर एक आसन पर बैठें तो उनका ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है।

नर और नारी का सामीप्य बहुत खतरनाक है नीति में भी कहा है—

घृतकुम्भसमा नारी, तप्तांगारसमः पुमान्।
तस्माद् घृतं च वह्निं च, नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

अर्थात्—नारी घी के घड़े के समान है और पुरुष तपे अंगार के समान है। अतएव बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह घृत और आग को एक जगह न रक्खे।

नर और नारी में कितना ही पवित्र सम्बन्ध क्यों न हो, कभी न कभी चित्त में विकार आये बिना नहीं रहता। मेरी बात पर यकीन न आता हो तो कोतवाली में जाकर मिसलें देख आओ। इसीलिए तो भगवान् ने स्त्रियों में बैठ कर बातें करने की मनाई की है।

किसी साहूकार की एक लड़की थी। साहूकार करोड़पति था। उसने अच्छा घर और अच्छा वर देख कर लड़की की

शादी कर दी और लाखों का दहेज दिया। लेकिन कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। थोड़े ही दिनों बाद वह लड़की विधवा हो गई। उसके सास-ससुर और माता-पिता को गहरा सदमा लगा। उन्होंने पौष्टिक खाना और शृङ्गारवर्धक कपड़े पहनना भी छोड़ दिया। पिता को रात-दिन लड़की की चिन्ता लगी रहती। यहां तक कि चिन्ता के कारण उसे रात्रि में नींद भी नहीं आती थी। धन या जेवर हो तो तिजोरी में बन्द कर लिया जाय, मगर बाल-विधवा लड़की को कहां बन्द किया जाय? कैसे सँभाला जाय? वह यही सोचा करता कि इसकी लम्बी उम्र कैसे निकलेगी।

कई लोग, जो नासमझ होते हैं गलत रास्ता अख्तियार करके अपना और अपनी विधवा लड़की के सर्वनाश के कारण बन जाते हैं। वे झूंठी ममता में फँस कर सोचते हैं—बेचारी लड़की ने क्या देखा है? इसने अपने जीवन मे क्या सुख पाया है? ऐसा सोच कर वे उसे नाटक और सिनेमा में ले जाते हैं। उन्हें यह विचार नहीं होता कि इसका आगे चलकर क्या नतीजा होगा?

कहा जा सकता है कि राम, सीता, अभिमन्यु या भरत-मिलाप जैसे पौराणिक खेल दिखलाने में क्या हानि है? लेकिन भाई, सिनेमा में बीच-बीच में शृङ्गारमय गाना, नाचना आदि नखरे प्राय: आ ही जाते हैं। ऐसे दृश्य दिखलाये बिना सिनेमा जमता नहीं है और साधारण लोगों की रुचि भी ऐसी हीन होती है कि ऐसे दृश्यों के बिना उन्हें सन्तोप नहीं होता। दो-चार ऐसे दृश्य आएँगे तभी लोगों को प्रसन्नता होगी। फिल्म तैयार करने वाली कम्पनियां व्यावसायिक दृष्टि से फिल्में तैयार करती हैं।

नीति और धर्म का प्रचार करना उनका उद्देश्य नहीं होता। अतएव वे जनता की रुचि का अनुसरण करती हैं और अधिकांश जनता गंदे दृश्य देखकर प्रसन्न होती है। यही कारण है कि प्रायः सभी फिल्मों में कुछ न कुछ शृङ्गारमय दृश्य आ जाते हैं। अतएव विधवाओं को सिनेमा न देखना और न दिखलाना ही हितकर है।

दूसरी बात यह है कि नाटक-सिनेमा देखने का अगर पूरी तरह त्याग कर दिया जाय तब तो उससे बचाव हो सकता है, अन्यथा नहीं। थोड़ी-सी भी छूट रखने से दीवार टूट जाती है। फिर कोई मर्यादा कायम नहीं रह पाती।

हाँ, तो मूल बात पर आ जाएँ। उस करोड़पति सेठ ने अपनी विधवा लड़की के जीवन को पवित्र रखने के विषय में बहुत सोच-विचार किया। अन्त में वह इस निश्चय पर पहुँचा कि लड़की को शास्त्रों का अध्ययन कराना चाहिए। उसने गीता और भागवत आदि पढ़ाने का विचार किया। मगर प्रश्न सामने आ खड़ा हुआ कि उसे शास्त्र किससे पढ़वाये जाएं? अगर किसी नौजवान से पढ़वाएँ तो खतरा है। यह सोच कर उसने एक महात्मा की खोज की। महात्मा उस गांव के बाहर रहते थे और स्त्री का मुंह देखना भी पसन्द नहीं करते थे। सेठ के कानों में उसकी कीर्ति पड़ चुकी थी। वे एक दिन अपनी लड़की को साथ लेकर महात्मा के पास पहुंचे और दंडवत करके सामने बैठ गये। फिर उन्होंने आजीजी करते हुए कहा—महात्माजी! मेरे भाग्य फूट गये हैं। यह लड़की इस अवस्था में विधवा हो गई है। अगर इसे भागवत का ज्ञान हो जाय तो इसका जीवन

शान्ति से व्यतीत हो जाय। इसीलिए इसे आपके पास लाया हूँ।

सेठ की बात सुनकर महात्मा ने कहा—मैं तो नारी जाति का मुख देखना भी पसन्द नहीं करता।

सेठ—महात्मन्! इसीलिए तो आपके पास लाया हूँ।

आखिर सेठ के प्रबल आग्रह को न टाल सकने के कारण महात्माजी ने लड़की को पढ़ाना स्वीकार कर लिया। भागवत की पढ़ाई आरम्भ हो गई। पहला स्कंध आरम्भ हुआ और समाप्त हो गया। दूसरा, तीसरा, चौथा और पांचवां स्कंध भी पढ़ा दिया गया। बतलाया गया कि पृथु राजा ने यज्ञ किया और हजारों पशु उसमें मारे गये। वे सारे जानवर नरक में इन्तजार कर रहे हैं कि वह नरक में कब आवे और कब उससे बदला ले। दूसरे में बतलाया गया कि जिसने जिन जानवरों का मांस खाया है वे भी इसी प्रतीक्षा में हैं कब अवसर मिले और कब हम उसका मांस खावें। पांचवें स्कध में ऋषभदेवजी का जिक्र चलता है। वे ऋषीश्वर और तपस्वी हुए हैं। उनका रूप इतना सुन्दर था कि उन्हें देखकर स्त्रियां मोहित हो जाती थीं। किन्तु वे पूर्ण ब्रह्मचारी और महान् योगी हो गये थे।

आठवें, नौवें और दसवें स्कंध में कृष्णजी की लीला का वर्णन है। ग्यारहवें स्कध में बतलाया गया है कि यदि लकड़ी की पुतली हो तो भी ब्रह्मचारी-साधु हाथ या पैर से उसका स्पर्श न करे। फिर साक्षात् स्त्री का स्पर्श तो कर ही कैसे सकता है? वास्तव में असली ब्रह्मचारी स्त्री को छू भी नहीं सकता-उसे छूने का अधिकार नहीं है।

भाइयो ! और सब बातें उतनी कठिन नहीं हैं, जितना कठिन ब्रह्मचर्य का पालन करना है। लोग मूंछें मरोड़ते हैं लेकिन ब्रह्मचर्य के बिना सब उखड़ जाएंगी। औरतें बड़े-बड़े 'सिंहों' को मच्छर सरीखा बना देती हैं। और जैसे मदारी बन्दर को नचाता है उसी प्रकार वे पुरुष को नचाती हैं। स्त्रियों के आगे पुरुष क्रीतदास बन जाता है।

महात्मा इस लड़की को पढ़ा रहे हैं। लड़की की जवानी गुलाब के फूल की तरह फूलती-खिलती जा रही है। पढ़ाते-पढ़ाते महात्माजी के चित्त में फितूर आ गया।

यह सूरत की तो दिखती भोली भाली,
डसने में हैगी पक्की नागिन काली।
हंस-हंस के रिझावे लगा हाथ के ताली,
पड़े इसके जाल में पढ़े-लिखे कई आली।
नहीं इसके विष की दवा हुए कब चैना,
मत पड़ तिरिया के फंद मान ले कहना।

स्त्री दिखने मे तो इतनी भोली-भाली दीखती है कि जैसे इसे पैसे गिनना भी नहीं आता, मगर यों समझो तो वह काली नागिन के समान है। उसके जहर की कोई दवा नहीं है।

बहनें यह न समझें, हम नारी-जाति को घृणा से देखते हैं और उनका अपमान करते हैं। नहीं, हमें स्त्रियों या पुरुषों से क्या लेना-देना है ? हमारे लिए सभी मनुष्य, यहां तक कि समस्त प्राणी समान हैं अर्थात् हमें किसी पर राग या द्वेष नहीं है। यहां

स्त्री जाति से पुरुषों को बचने के लिए जो उपदेश दिया जाता है, वह केवल ब्रह्मचर्य की रक्षा के पवित्र उद्देश्य से ही दिया गया है। जो बात पुरुषों से स्त्रियों के सबंध में कही गई है, वही बात स्त्रियों से भी पुरुषों के सबंध में कहता हूँ। स्त्री अगर ब्रह्मचारी पुरुष के लिए विष के समान है तो ब्रह्मचारिणी स्त्री के लिए पुरुष भी विष के ही समान है। स्त्रियों को पुरुषों के सान्निध्य-संसर्ग से बचना चाहिए और ब्रह्मचर्य पालने के लिए पुरुषों को जो नियम बतलाये गये है, वे स्त्रियों के लिए भी समझना चाहिए। आशय यह है कि पुरुष भी कम माया नहीं है। हम तो दोनों के खरे खरे गीत गाते हैं। हमें घूस लेनी नहीं है, पैसे लेने नहीं है कि किसी की खुशामद करके व्याख्यान दें।

तो नियत मे खराबी आ जाने पर कभी महात्मा उस लड़की के मुख की ओर देखते और कभी किन्हीं दूसरे अगोपांगी पर नजर डालते थे। उस लड़की का पिता उन दिनों परदेश गया था। मौका देख कर महात्मा बोले-आज जरा मेरे पैर तो दबा दो।

महात्मा के यह शब्द सुनते ही लड़की समझ गई कि महात्मा के चित्त में विकार उत्पन्न हो गया है। उसने कहा—आज मेरे घर पर काम ज्यादा है और मुझे जल्दी बुलाया है। आज नहीं महात्माजी, कल आपके पैर अवश्य दबा दूँगी।

भाइयो! दोनों मे से अगर एक भी दृढ़ हो तो काम नहीं बिगड़ता है। जब दोनों एक माजने के हो जाते हैं तब सर्वनाश होने मे कोई कसर नहीं रहती। लड़की का मन मजबूत था तो उसके शील की रक्षा हो गई। वह अपने घर लौट गई। उसनें सोचा—महात्माजी ने मुझे ज्ञान दिया है तो मेरा कर्त्तव्य है कि

मैं भी महात्माजी को इस अवसर पर कुछ ज्ञान देकर इनके चित्त को स्वच्छ करुं। यह सोचकर उसने एक उपाय खोज लिया।

दूसरा दिन हुआ। पांच हजार की कीमत का एक लाल लेकर वह महात्मा के पास पहुँची। महात्मा ने कहा—आ, बैठ जा। फिर उसे पाठ पढ़ाया। इसके बाद महात्मा से वह कहने लगी--महात्माजी मैं एक लाल लेकर आई हूँ। इसकी कीमत बाजार में पूछ आइए।

महात्मा ने लाल हाथ में ले लिया और सोचा—यह छोकरी बड़ी होशियार मालूम होती है। मेरे साथ आने के लिए यह तो धन भी लाने लगी।

महात्मा बाजार में एक जौहरी की दुकान पर गये। जौहरी ने आदर के साथ उन्हें गादी पर बिठलाया। तब महात्मा ने डिबिया में से वह लाल बाहर निकाला और जौहरी के हाथ में देकर कहा—इसकी कीमत क्या होगी, जरा बतलाइए तो। जौहरी ने लाल को भली भांति देखकर कहा--इसकी कीमत पाँच हजार है!

महात्मा बोले--ठीक है। मैं कल फिर आपके पास आऊंगा।

दूसरे दिन जब लड़की पढ़ने आई तो महात्मा ने कहा—जौहरी ने इस लाल का मूल्य पाँच हजार बतलाया है।

लड़की ने लाल ले लिया। उसने कंडे जलाये और लाल उसमें डाल दिया। आग मे पड़ कर वह लाल काला पड़ गया। फिर उसने महात्माजी को वह लाल देकर कहा—अब इसे बेच डालिए और जो मूल्य उपजे वह लेते आइए।

महात्मा फिर उसी जौहरी के पास पहुँचे। उन्होंने लाल देकर उससे कहा—इसे ले लीजिए और रुपये दे दीजिए।

लाल को देख कर जौहरी बोला-क्या मुझे धोखा देने आये हो?

महात्माजी जौहरी का आशय समझ नहीं सके। बोले—अरे भाई, यह तो वही लाल है, जो कल तुमने देखा था।

जौहरी ने कहा—चुपचाप चल दो, नहीं तो पुलिस के हवाले कर दिये जाओगे।

महात्मा अपना सा मुंह लेकर वापिस लौट आये। अपने ठिकाने पहुंच कर लड़की से कहने लगे-मूर्खे! तुझे इतनी भी अक्ल नहीं है? आग लगने से लाल खाक हो गया! अब यह कानी कौड़ी का भी नहीं रहा। तू ने पाँच हजार पर पानी फेर दिया!

लड़की धीमी-सी मुस्किराहट के साथ बोली-महात्माजी इतने दिनों तक आप मेरे गुरु थे। अब मैं आपकी गुराणी बनती हूँ। देखिए, यह लाल पांच हजार में मिल सकता है, मगर ब्रह्मचर्य करोड़ रुपया खर्च करने पर भी नहीं मिल सकता। आपको पांच हजार के लाल की जितनी चिन्ता है, उतनी अनमोल लाल की अर्थात् ब्रह्मचर्य की भी चिन्ता है या नहीं? जैसे आग के स्पर्श से लाल खराब हो गया-उसकी कोई कीमती नहीं रही, इसी प्रकार स्त्री के स्पर्श से आप भी खराब हो जाएँगे। आपके ब्रह्मचर्य का क्या मूल्य रह जायगा? आपने ही तो मुझे पढ़ाया था कि ब्रह्म-

चारी लकड़ी की पुतली का भी स्पर्श न करे। फिर आप ही मुझ से पैर दबवाना चाहते हैं?

किसी आदमी ने हजारों रुपये खर्च करके बगीचा लगाया। उसमें तरह-तरह के सुन्दर और सुगंध वाले फूल लगाये। जब फूल खिले तो वह गाड़ी भर कर लेजाने लगा। लोगों ने उससे पूछा-भाई इतने फूल कहां लेजा रहे हो? उसने उत्तर दिया-इनका इत्र निकालेगा। तब लोगों ने पूछा-इत्र का क्या करोगे? उसने कहा-इत्र का शहर की गटरों में डालूंगा खुशबू के लिए।

लड़की कहती है- महात्माजी! क्या आप इस मूर्ख मनुष्य को विवेकवान् समझेंगे जो बहुमूल्य इत्र को गटरों में डाल देना चाहता है? क्या आप ऐसा ही करने के लिए उद्यत नहीं हुए हैं? मनुष्य जन्म और ब्रह्मचर्य अनमोल रत्न हैं। उन्हें यों लुटा देना मूर्खता की पराकाष्ठा है। महात्मन्! मैं आपसे यह आशा नहीं रखती।

लड़की की करारी फटकार सुन कर महात्मा की अक्ल ठिकाने आ गई। उन्होंने कहा-सचमुच आज से तू मेरी गुरुणी हुई! मैं ने शास्त्रों की अवहेलना की, स्त्री के पास बैठा, स्त्री के साथ सम्पर्क बढ़ाया, उसी का यह फल है। आज से मैं फिर अपने नियमों पर दृढ़ होता हूँ। तुम्हारा जीवन सुधारने के लिए ही तुम्हारे पिता ने तुम्हें मेरे पास भेजा था। मैं समझता हूँ, उनकी इच्छा पूर्ण हो गई है। तुम्हें ज्ञान हो गया है। अब तुम्हारा जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होगा। जाओ, अपने घर चली जाओ और अपने उच्च तथा उज्ज्वल चरित्र से नारी जाति के समक्ष

आदर्श उपस्थित करो और विधवा बहिनों को पवित्र रास्ता दिखलाओ। मुझे अपनी साधना में फिर जुटने दो।

लड़की महात्माजी को प्रणाम करके अपने घर चली आई। महात्माजी अपना डेरा उठा कर दूसरे गांव के लिए रवाना हो गये। जो ठोकर खाकर भी सुधर जाता है, वह भी प्रशंसनीय समझा जाता है।

इसी आशय की एक कथा अपने यहां आगमों में आई है। श्री राजीमती को देख कर रथनेमि का चित्त विकार युक्त हो गया था। एकान्त गुफा थी। वहां तीसरा कोई व्यक्ति मौजूद नहीं था। रथनेमि ने जब राजीमती से भोग भोगने की अभ्यर्थना की तो उन्होंने बड़े ही कड़े शब्दों में उसे फटकार बतलाई! कहा—

धिरत्थु तेऽजसोकामी, सेयं ते मरणं भवे।

अरे अपयश की कामना करने वाले! तुम्हें धिक्कार है! साधुता की प्रतिज्ञा लेकर, राजसी भोगोपभोगों को त्याग कर फिर जूठन चाटने की अपेक्षा तो मौत का आलिंगन कर लेना ही श्रेयस्कर है।

इन दृढ़ता से परिपूर्ण शब्दों को सुनकर रथनेमि का चित्त ठिकाने आ गया था।

यह दृष्टान्त इस बात पर दिया गया था कि स्त्री और पुरुष को साथ-साथ या पास-पास नहीं रहना चाहिए।

(४) ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए चौथा नियम यह है कि ब्रह्मचारी पुरुष, स्त्री के अंगोपांगों का अवलोकन न करे। कोई

कह सकता है कि विकार तो चित्त में होता है, आंखों में नहीं फिर स्त्री के अंगोपांगों को अगर देख भी लिया जाय तो क्या हानि है ? इस शंका का समाधान यह है कि जैसे सूर्य की तरफ बार-बार देखने से आंखों की शक्ति का नाश होता है, उसी प्रकार स्त्रियों के अंगोपांगों को देखने से ब्रह्मचारी पुरुष के ब्रह्मचर्य का विनाश होता है। इसी विषय में शास्त्र का आदेश है कि कदाचित् अचानक स्त्री की तरफ दृष्टि चली जाय तो फौरन हटा लेनी चाहिए। यथा—

भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे।

जैसे चमकते हुए सूर्य की तरफ दृष्टि जाती है तो फौरन हटा ली जाती है, उसी प्रकार स्त्री की ओर से भी दृष्टि फेर लेनी चाहिए।

(५) ब्रह्मचर्य-पालन की पांचवीं मर्यादा यह है कि ब्रह्मचारी पुरुष टाटी, दीवाल या पर्दे के पीछे सोते हुए, विलासमय चेष्टाएँ करते हुए, या हँसी करते हुए पति-पत्नी के समीप न ठहरे और न उनके शब्द ही सुने। उनके शब्द या हँसी-मजाक की बातें सुनने से मन में विकार उत्पन्न होने की पूरी सभावना रहती है। जैसे मेघ की गर्जना सुनने से मोर बोलने लगता है, उसी प्रकार काम-विकार संबधी बाते सुनने से विकार जागृत होता है।

(६) छठा नियम यह है कि ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्य धारण करने से पहले की भोगोपभोग भोगने सम्बन्धी बातों का स्मरण न करे। पहले की काम-चेष्टाओं का स्मरण करने से विकारभाव जागृत हो जाता है।

दो मुसाफिर यात्रा करने के लिए निकले और रास्ते में किसी बुढिया के घर ठहरे। बुढ़िया ने प्रातःकाल उन्हें छाछ पिलाई और वे रवाना हो गये। बाद में बुढ़िया ने जब छाछ का बर्त्तन खाली किया तो उसमें से मरा साँप निकला। बुढ़िया बहुत पछताने लगी। उसने सोचा--हाय उन बेचारे मुसाफिरों का क्या हाल हुआ होगा ?

करीब छह महीने में वे मुसाफिर वापिस लौटे और फिर उसी बुढ़िया के घर ठहरे। उन्होंने आकर कहा--मा जी, आशीर्वाद दो ! हम लोग धन कमा कर लाये हैं। तब बुढ़िया बोली अरे बेटा ! तुम्हें जीवित अवस्था मे देख कर मुझे बहुत प्रसन्नता है। मैं ने तुम्हें जो छाछ पिलाई थी, उसमे साँप का जहर मिला हुआ था। बुढ़िया की बात सुनते ही दोनों मुसाफिर बेहोश हो गये और थोड़ी देर में दोनों के प्राण-पखेरु उड़ गाये।

अतएव ब्रह्मचारी को, स्त्री के साथ की हुई प्रवृत्ति का स्मरण नहीं करना चाहिए।

(७) ब्रह्मचर्य-पालन का सातवां नियम है--गरिष्ठ, तामसिक, विकारवर्धक भोजन-पान न करना। कदाचित् ऐसा भोजन करना अनिवार्य हो जाय तो उसके प्रभाव को कम करने के लिए यथा-योग्य उपवास करना चाहिए। बार-बार ऐसा भोजन करने से ब्रह्मचर्य भंग हो जाता है और तुम भी नरक का रास्ता पकड़ोगे।

जो गृहस्थ रूखा-सूखा भोजन करते हैं, उनका भी चित्त ठिकाने नहीं रहता, ऐसी स्थिति मे अगर साधु प्रतिदिन गरिष्ठ माल-मसाले खाएगा तो उसकी साधुता ठिकाने लगने में क्या

कसर रह जाएगी ? किसी आदमी को त्रिदोष की बीमारी हो जाय और फिर उसे मिश्री तथा दूध पिला दिया जाय तो वह नीलाम ही बोल जायगा--मर जायगा इसी प्रकार जो रोज माल खायगा वह ब्रह्मचर्य से च्युत हो जायगा।

(८) ब्रह्मचारी के लिए आठवाँ परहेज यह बतलाया गया है कि रूखा-सूखा भोजन भी परिमाण से अधिक नहीं खाना चाहिए। सेर की हंडिया में सवा सेर भर दिया जाय तो फूटे बिना नहीं रहेगी।

(९) नौवीं मर्यादा यह है कि ब्रह्मचारी को तेल-फुलेल, इत्र आदि नहीं लगाना चाहिए। उसे चमक-दमक बढ़ाने के लिए पाउडर आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए, चटकीले-भड़कीले वस्त्र भी नहीं पहनना चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए स्नान करना भी वर्जित है। उसके तो प्रतिदिन ब्रह्मचर्य का ही स्नान हो रहा है। यही उसकी शुचिता है। कहा है--

> अशुचिः करुणाहीनो, अशुचिर्नित्यमैथुनः।
> अशुचिः परापवादी च, अशुचिः पर निंद्रकः॥

जिसके अन्त.करण में करुणा का अभाव है वह अपवित्र है और उसका नरक छूटने वाला नहीं है। जो नित्यप्रति मैथुन का सेवन करता है, वह भी शुद्ध नहीं है। दूसरों को झूठा दोष लगाने वाला और पराई निन्दा करने वाला भी अशुचि है। ऐसे लोग चाहे दिन में दस बार स्नान करे और घड़े के घड़े अपने शरीर पर ढोर ले, फिर भी वे कभी शुद्ध नहीं होते।

इस कथन से यह भी आशय निकलता है कि जिसके हृदय में दया है, जो ब्रह्मचारी है और परनिन्दा का त्यागी है, वह भले ही जल से स्नान न करता हो फिर भी वह सदैव पवित्र है।

इन नौ नियमों को जैन परिभाषा में 'नववाड़' कहते हैं। जैसे खेत की रक्षा के लिए बाड़ की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए इन नौ बातों की आवश्यकता है। यह नौ बाड़ ब्रह्मचर्य की रक्षा में बहुत सहायक होते हैं। शास्त्र में कहा है—

आलओ त्थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तासिं इंदियदरिसणं॥
कूइयं, रुइयं गीयं, हासं भुत्ता सियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं॥
गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥

इन गाथाओं का आशय वही है, जो पहले कहा जा चुका है। विशेषता की बात यह है कि जिन चीजों का त्याग करना आवश्यक बतलाया गया है, उन्हें शास्त्रकार आत्मा की गवेषणा करने वाले ब्रह्मचर्य पुरुष के लिए तालपुट नामक भयानक विष के समान बतलाते हैं।

सारांश यह है कि अनादिकाल से आत्मा में जागी हुई कामभोग की भावना और वासना को निर्मूल करना कोई साधा-

रण बात नहीं है। उस वासना को पूरी तरह जीतने के लिए बहुत सावधानी रखनी पड़ती है। खान पान और रहन-सहन सम्बन्धी बातों पर पूरा अंकुश रक्खे बिना ब्रह्मचर्य की साधना नहीं होती। अतएव ब्रह्मचारी पुरुष को नाच, गीत, शरीर की सजावट, अश्लील बातों का श्रवण आदि-आदि कामोत्तेजक बातों से सदैव बचते रहना चाहिए। खास तौर से स्त्रियों के संसर्ग से दूर रहना चाहिए। शास्त्र में कहा है—

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥
+ + +
हत्थपायपडिच्छिन्नं कन्ननासविगप्पिअं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥

जैसे मुर्गी के बच्चे को सदैव बिलाव से भय बना रहता है, उसी प्रकार स्त्री के शरीर से ब्रह्मचारी को निरन्तर भय रहता है। ……इस कारण जिसके हाथ और पैर कटे हुए हों, कान और नाक कटी हुई हो और जो सौ वर्ष की बुढ़िया हो, ऐसी स्त्री से भी ब्रह्मचारी दूर ही रहे।

गृहस्थो ! यह मत समझो कि ब्रह्मचर्य सम्बन्धी यह विधान सारे के सारे साधुओं के लिए ही हैं। यह साधुओं के लिए तो हैं ही, पर एक सीमा तक गृहस्थों के लिए भी हैं साधु स्त्री मात्र के त्यागी हैं तो गृहस्थ श्रावक भी परस्त्री का त्यागी होता है, अत-एव परस्त्री के सम्बन्ध उसे भी इन मर्यादाओं का पालन करना चाहिए। उसे परस्त्री के साथ एकान्त में रहना नहीं चाहिए,

अधिक सम्पर्क भी नहीं बढ़ाना चाहिए। अगर श्रावक अपनी मर्यादा का लंघन करता है तो वह भी अपने धर्म से पतित होता है।

इसी प्रकार ब्रह्मचारिणी स्त्री को भी पुरुष की भांति ही सब नियमों का पालन करना चाहिए। बदचलन औरत को राक्षसी की उपमा दी गई है। उसके दोनों स्तन दो फोड़े हैं। जो ऐसी स्त्रियों के फंदे में फस जाता है, उसकी बड़ी दुर्दशा हो जाती है। आरंभ में वे अपनी मोहक चेष्टाओं द्वारा पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं और जब पुरुष उनके चगुल में फंस जाता है तो फिर उससे गुलाम जैसा व्यवहार करती हैं। ऐसे पुरुष के लिए जीवन भारभूत हो जाता है।

फिर भगवान् फर्माते हैं—गौतम! विषयवासना आत्मा को मलिन बनाने वाली है और जिसके मन मे विषयवासना ने घर कर रक्खा है, उसे निरंजन-निराकार पद प्राप्त नहीं हो सकता। वह धर्म की आराधना करने मे उत्साहहीन हो जाता है।

बहुत-से लोग एक पत्नी के मर जाने पर दूसरा विवाह करते हैं और वे अपनी उम्र का भी खयाल नहीं करते। ऐसे विषयलोलुप लोग जगत् में उपहास के पात्र बनते हैं। उन्हें अपनी आंखों में सुरमा आँजना पड़ता है और बालों मे खिजाब लगाना पड़ता है। उनकी दशा बड़ी दयनीय होती है। वह वृद्धावस्था में भी भजन करना भूल जाता है।

भगवान् ने फरमाया है कि कामभोग शल्य के समान हैं। जैसे शरीर के भीतर चुभा हुआ शूल मार्मिक वेदना पहुँचाता है, उसी प्रकार यह कामभोग भी आत्मा को गहरी वेदना पहुंचाने

वाले हैं। कामभोग विष से भी अधिक विषम हैं। विष की बात की जाय, विष को हाथ में लिया जाय, आंखों से देखा जाय या विष संबधी बात कानों से सुनी जाय तो विष हानि नहीं पहुँचाता, लेकिन कामभोगों का विष इतना तीव्र होता है कि उनकी बात कहने-सुनने से, स्मरण करने और देखने से भी अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। फिर और-और विषों का प्रभाव तो अधिक से अधिक वर्तमान जीवन को ही प्रभावित करता है, मगर भोगों का विष जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा को प्रभावित करता है।

नीतिकार कहते हैं—'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता।' अर्थात् वास्तव में मनुष्य भोग नहीं भोगते, वरन् भोग ही मनुष्य को भोगते हैं। विचार करना चाहिए कि इन कामभोग में क्या आनन्द है? जिन कामभोगों का फल दारुण वेदना हो, उनका भोगना किस प्रकार आनन्दप्रद माना जा सकता है? भ्रमवश कदाचित् उन्हें सुखदायक भी मान लिया जाय तो भी वे क्षण भर ही सुखदायक होते हैं। भ्रमवश कहने का अभिप्राय यह है कि विषयभोगों से मिलने वाला सुख वास्तव में सुख नहीं सुखाभास है। सच्चा सुख तो तृप्ति में है और विषयभोगों का सर्वथा त्याग करके एकान्त निराकुल अवस्था में ही तृप्ति हो सकती है। अतएव भोगजन्य सुख को सुख समझना कोरा भ्रम है, दुःखों को निमन्त्रण देना है।

कामलोलुप पुरुष परलोक में दुःखों के पात्र बनते हैं। पर साधारण मनुष्य उन दुःखों की कल्पना नहीं कर सकता। लेकिन उन्हें भी इसी लोक में, इसी जीवन में, होने वाले दारुण परि-

णाम का तो विचार करना चाहिए। सुजाक और गर्मी जैसे भयानक दु:खों के शिकार वही लोग होते हैं जो भोगलोलुप हैं। ऐसे लोग अपने आपको कोसते हुए अत्यन्त दु:ख भोगते हैं। वे अपनी करतूतों के लिए पछताते हैं, जब अंग सड़ने लगते हैं तो वेदना से व्याकुल होते हैं और अपने परिवार वालों को भी परेशान करते हैं। वे फकीरों की तरह तहमत बाँधे फिरते हैं। कोई उनसे पूछता है—क्या हो गया है! तब वे लज्जा के कारण झूठ बोलते हुए कहते हैं—रूं तोड़! अरे, यह क्यों नहीं कहते कि कर्म-फोड़ हो गया है।

भोगलोलुप लोग बाद में कितना ही पश्चात्ताप क्यों न करें, अपने कर्मों का फल भुगते बिना छुटकारा नहीं पा सकते। अतएव हे मनुष्य! तूने अन्य सब प्राणियों से विशिष्ट बुद्धि पाई है, तुझे विवेक भी प्राप्त है, तू अपने भविष्य के विषय में विचार कर। सोच-समझ कर कदम उठा। फूंक-फूंक कर चल। आँखें रहते अन्धा क्यों बनता है? जानबूझ कर क्यों आग में पड़ता है? अगर तू अपने भविष्य का विचार नहीं कर सकता तो तेरी मनुष्यता की तेरी बुद्धि की क्या सार्थकता है? फिर किस बात में तू पशुओं और पक्षियों से बढ़कर है?

भाइयो! यह कामभोग किंपाक फल के समान हैं। कोई मनुष्य भ्रमवश उन फलों की तरफ चला गया। उसे भूख लग रही थी। वह फल तोड़कर खाने लगा तो एक भील ने कहा—यह फल जहरीले हैं। इन्हें मत खाओ। मगर किंपाक फल का रंग-रूप देखकर उसने एक फल सूंघा तो बड़ी खुशबू आई। फिर

उसे चखा तो तृप्ति मालूम हुई। मगर ज्यों ही उसके विष का असर हुआ कि नीलाम बोल गया।

इसी प्रकार कामभोग ऊपर-ऊपर से सुहावने प्रतीत होते हैं, मगर फल इनका भी बड़ा ही दारुण है। इनका परित्याग कर देना कायरों के लिए कठिन है। शूरवीर पुरुष ही इनसे विमुख होकर अपनी आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाते हैं। जैसे गरियाल बैल बीच ही में घुटने टेक देता है और असली नागौरी बैल लक्ष्य तक पहुँचे बिना नहीं रहता, इसी प्रकार कायर पुरुष कदाचित् विषयभोग का त्याग भी कर देता है तो बीच ही में अपने त्याग को छोड़ भी देता है।

सबलिया मारवाड़ का धोरी,
तू तो पार लगा दे सोरी ॥ ध्रुव ॥

असली और सच्चा मर्द ही ब्रह्मचर्य का पालन कर सकेगा। जैसे व्यापारी जहाज पर सवार होकर व्यापार के निमित्त समुद्र के परले पार जाता है, उसी प्रकार जो ब्रह्मचर्य रूपी जहाज में बैठेगा वह संसार रूपी समुद्र के परले पार जायगा। जैसे मन भर का पत्थर गले में बाँधकर डुबकी लगाने वाला पुरुष तल भाग में जाकर अपने प्राण गँवाता है, उसी प्रकार विषयभोगों की गठरी अपने सिर पर लादने वाला मनुष्य पाताल लोक की ओर ही प्रयाण करता है।

भाइयो! संसार में बंधन तो अनेक हैं किन्तु विषयभोग के बन्धन के समान और कोई बंधन नहीं है। जिसने इस बंधन को तोड़ कर फैंक दिया है, समझ लो उसने सभी बंधनों को तोड़

फैंकने की तैयारी करली है। अन्य बंधनों से मुक्ति पाना उसके लिए सरल हो जाता है। अतएव अगर आत्मा का परम कल्याण चाहते हो तो, विषय-वासना की जड़ को उखाड़ कर फैंकने का प्रयत्न करो। यह वासना आत्मा को मलिन बनाने वाली है। मगर आपने इस वासना पर विजय प्राप्त करके ब्रह्मचर्य का आराधन किया तो निश्चय ही आपका इह लोक और परलोक सुधर जायगा। उज्ज्वल वर्त्तमान और आभामय भविष्य आपके सामने चमकता रहेगा और आनन्द ही आनन्द होगा।

ता० १३ ६-४८

२

भाषा-विवेक

स्तुतिः—

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रित ते ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहां तक स्तुति की जाय? भगवन्! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ?

हे महाप्रभो! आपकी महिमा अपरम्पार है। हाथियों के कुंभस्थल का विदारण करने से गिरने वाले चमकते हुए और

खून-भरे मोतियों से भूमि को भूषित करने वाला अर्थात् मदोन्मत्त हाथियों के मस्तक को विदारण करने वाला सिंह भी आपके चरणों का आश्रय लेने वाले पर आक्रमण नहीं करता। जिस पुरुष ने आपके पावन पाद-पद्मों का आश्रय ग्रहण कर लिया है, उसके ऊपर सिंह भी हमला नहीं करता है, भले ही वह सिंह के पैरों तले क्यों न आ जाय ? भगवद्-भक्ति के प्रताप से, भक्त के आगे सिंह के पैर भी बँध जाते हैं।

भोले लोग समझते हैं कि भक्तों पर जब कोई संकट आकर पड़ता है तब भगवान् मुक्ति से दौड़े आते हैं और अपने भक्त की रक्षा करते हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि भगवद्भक्तों की रक्षा अवश्य होती है मगर इसके लिए भगवान् को भाग कर आने की आवश्यकता नहीं होती। जो लोग भगवान् का आना मानते हैं, वे भगवान् की महिमा को कम करते हैं। उन्होंने भगवान् की वास्तविक महत्ता को पहचान नहीं पाया है। अगर भक्त की रक्षा के लिए भगवान् को सदैव भागकर आना पड़ता हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त सदैव इतना निर्बल और असहाय बना रहता है कि भगवान् के बिना उसका काम कभी चल ही नहीं सकता। अगर यही बात है तो भगवान् की भक्ति से क्या लाभ हुआ ? ऐसी औषध किस काम की, जिसे वर्षों तक सेवन करने के बाद भी अगर एक दिन सेवन न किया जाय तो फिर बीमारी चेत जाय ? असली औषध वह है जो बीमारी को जड़ से उखाड़ कर फैंक देती है और चाहे उसका सेवन न किया जाय, तो भी बीमारी नहीं पैदा होती। इस प्रकार असली औषध में जितना गुण है, उतना भी गुण अगर भगवद्भक्ति में न हो

तो भक्ति की महिमा ही क्या रही ? भक्ति करने पर भी अगर भक्त मे शक्ति नहीं आती तो मानना पड़ेगा कि या तो उसकी भक्ति में ही त्रुटि है या जिसकी भक्ति की जा रही है, उनमें स्वयं शक्ति नहीं है ? वास्तव में वही भक्ति सच्ची भक्ति है जिससे भक्त में आत्मबल प्रकट हो जाता है और वह स्वयं आत्मबली होकर समर्थ बन जाता है।

जैनधर्म का यही मन्तव्य है। वह यह नहीं कहता कि भक्तों की रक्षा के लिए भगवान् को भाग कर आना पड़ता है। जिनेश्वर-देव की भक्ति करने से भक्त की आत्मा ऐसी बलशाली और पुण्य-पूरित हो जाती है कि संकट चाहे कितना ही विकट क्यों न हो, वह उस पर विजय प्राप्त कर लेता है। जिसने प्रभु ऋषभदेव के चरणों की शरण गही है, उसकी शक्ति सिंह की पाशविक शक्ति को परास्त कर देता है। और जो बात भगवान् ऋषभदेव की भक्ति के विषय में है, वही बात अन्य-तीर्थंकरों की भक्ति के विषय में भी समझनी चाहिए। क्योंकि सभी तीर्थंकरों की शक्ति समान है। उनमे किसी भी प्रकार की न्यूनता या अधिकता नहीं है।

अपने भक्त में अपूर्व और अद्भुत शक्ति जागृत कर देने वाले भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार है!

आत्मा में अपूर्व अलौकिक शक्ति को जगाने का उपाय निरन्तर जागृत रहना है। सतत सावधान होकर जो साधक अपनी साधना में निमग्न रहता है, वही उस शक्ति को प्रकट कर सकता है। सतत सावधान रहने का अर्थ यह है कि साधक को कभी प्रमाद के वशीभूत नहीं होना चाहिए। ऐसा न हो कि इधर

से आया और उधर से गया। अर्थात् थोड़ी देर साधना करके जो शक्ति प्राप्त की, वह बाद में प्रमाद के वश हो कर गँवा दी। ऐसी स्थिति में शक्ति का संचय नहीं होता। ऐसे साधक के विषय में यही उक्ति चरितार्थ होती है कि अन्धी पीसे कुत्ता खाय। कोई अन्धी औरत चक्की पीसती जाती है और ज्यों-ज्यों आटा चक्की से बाहर निकलता जाता है, त्यों-त्यों पास में खड़ा कुत्ता उसे खाता जाता है। इस प्रकार जैसे अन्धी का परिश्रम व्यर्थ जाता है, वैसे ही जो साधक साधना करके प्रमाद में पड़ जाता है, उसकी साधना भी व्यर्थ हो जाती है। अतएव भगवान् का फर्मान है कि साधक को क्षण भर के लिए भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। भगवान् ने कहा है:—

समयं गोयम ! मा पमायए।

प्रमाद पाँच प्रकार का है:—(१) मद्य (२) विषय (३) कषाय (४) निद्रा और (५) विकथा। यह पाँचों प्रमाद जीव को भान-हीन बनाने वाले हैं और इस कारण संसार भ्रमण के कारण हैं।

इनमें सब से पहले मदिरा (मद्य) की गणना की गई है। इसका कारण यह है कि मद्य-सेवन का परिणाम कैसा होता है, यह बात समस्त जगत् में विख्यात है। चाहे कोई नागरिक हो या ग्रामिण हो, पढ़ा लिखा हो या अपढ़ हो, धर्मोपदेश सुनता हो या न सुनता हो, नौजवान हो या वृद्ध हो, नर हो या नारी हो कोई भी क्यों न हो, मदिरापान की बुराइयों से सभी भली भांति परिचित हैं। नित्य मदिरा पीने वाले से, जब उसके दिमाग पर नशा न हो और वह स्वस्थ हो, मदिरा के विषय में

पूछा जाय तो वह उसकी बुराई किये बिना नहीं रहेगा। यह बात दूसरी है कि मदिरा मनुष्य को अपने चगुल में इस तरह फसा लेती है कि वह उससे छूटना चाहता हुआ भी छूट नहीं सकता। वह उसके दुर्गुणों को और उसके खोटे परिणाम को समझता हुआ भी उसका सेवन करता है।

सच पूछो तो मदिरा में जो बड़ी-बड़ी अनेक बुराइयां है, उनमें से यह भी उसकी एक बड़ी बुराई है। शराब पीने की आदत पड़ जाने पर फिर छूटना बड़ा कठिन हो जाता है। पहले तो मनुष्य कुसगति के फेर मे पड़ कर या कुबुद्धि के वशीभूत होकर शौक से मदिरा को अपनाता है, फिर मदिरा उसके सिर पर सवार हो जाती है। वह बड़ी बुरी तरह बदला चुकाती है।

शराब के संबंध मे एक व्याख्यान में मै कह चुका हूँ। अतएव आज विस्तार के साथ नहीं कहना चाहता, फिर भी इतना अवश्य कहता हूँ कि जिन भले आदमियों को इहलोक और परलोक न बिगाड़ना हो, समाज में घृणा और नफरत का पात्र न बनना हो, धर्म से पतित न होना हो; अपने कुटुम्ब-परिवार वालों के लिए भारभूत और कालरूप न बनना हो, जो अपनी और अपने बाप-दादों की इज्जत को धूल में न मिलाना चाहता हो, जो अपनी सम्पत्ति का स्वाहा न करना चाहता हो और अपनी प्यारी सतान को सकटों के गहरे गड़हे मे न डालना चाहता हो, उसे मदिरापान से सदैव दूर—बहुत दूर ही रहना चाहिए। जो मनुष्य मोरियों में पड़ा-पड़ा दुनिया का तिरस्कार ओढ़ने से बचाना चाहता है और अपने जीवन को सर्वनाश से बचना चाहता है, उसे मदिरापान की बुरी आदत को शुरु ही नहीं करना चाहिए।

भाइयों ! मदिरा कभी काम में मत लो, नहीं तो चेतनजी ! तुम हार जाओगे और पाप कर्म जीत जाएँगे। देखो, ठाकुरजी के अन्नकूट मे नशीली चीजें नही चढ़ती। नाथद्वारे में ५६ भोग नाथजी को चढ़ाये जाते हैं मगर उसमें मदिरा नहीं होती। फिर न जाने क्यों और कैसे उनके भगत लोग मदिरा का सेवन करने लगे ?

दूसरा प्रमाद विषय हैं। पांच इन्द्रियों के विषय में जो आसक्त हो जाता है, वह भी अपने हित-अहित को भूल जाता है और आसक्ति के कारण ऐसे कर्म कर बैठता है कि जिनसे कभी-कभी प्राण चले जाने की नौबत आजाती है। अतएव इन्द्रियों पर काबू रक्खो। इन्द्रियों पर काबू रखने का अर्थ यह नहीं है कि कानों से सुनना बन्द करलो, आँखों से देखना बन्द कर दो; आंखें फोड़ लो या उन पर पट्टी बांधे फिरो, नाक से सूंघना बन्द कर दो, जीभ से स्वाद लेना छोड़ दो और स्पर्शनेन्द्रिय से किसी चीज को छूना त्याग दो। नहीं शास्त्रकारों का आशय यह नहीं है। ऐसा करने से जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। इन्द्रियों पर काबू रखने का अर्थ यह है कि मनोज्ञ अर्थात् रुचिकर समझे जाने वाले पदार्थों पर राग मत करो और अमनोज्ञ अर्थात अरुचिकर समझी जाती वस्तुओं पर द्वेष भाव धारण मत करो। इन्द्रियां स्वाभाविक रूप से अपने अपने विषयों को तो ग्रहण करती ही रहेगी। दूसरे को बोला हुआ शब्द कानों मे पड़े विना नहीं रहता और सामने आई हुई वस्तु भी नजर आएगी ही। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियां अपना-अपना काम करती रहेगीं। उनके काम करते रहने से ही तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं होगा। अनिष्ट तब होगा जब तुम उन विषयों में से किसी पर राग करोगे

और किसी पर द्वेष करोगे। इसके विरुद्ध अगर तुमने अपने को दी जाने वाली गालियों को और अपनी की जाने वाली प्रशंसा को समभाव से ग्रहण किया, किसी प्रकार का हर्ष या विषाद न माना तो कर्मबंध नहीं होगा। अतएव भाइयो! इन्द्रियों के विषयों में समभाव को जागृत करने का अभ्यास करो। वास्तव में तो मनोवृत्ति ही मुख्य रूप से कर्मबन्ध का कारण है। समभाव धारण करने से तुम इसी जीवन में अपूर्व शान्ति प्राप्त कर सकोगे। संसार के प्राणियों को सताने वाले दुःखों से सफलता पूर्वक बचने के लिए समभाव अद्भुत उपाय है। समभाव धारण किये बिना जीवन में कभी स्थायी सुख और संतोष नहीं मिल सकता।

तीसरा प्रमाद कषाय है जैसे मदिरा का असर होने पर प्राणी वेभान हो जाता है, उसी प्रकार कषाय का आवेश होने पर भी प्राणी अपने आपको भूल जाता है। उसे अपना भला-बुरा भी नहीं सूझता और ऐसे-ऐसे काम कर गुजरता है कि उसे सदैव पछताना पड़ता है। कभी-कभी तो कषाय के आवेश में आया मनुष्य अपने या दूसरों के प्राण का ग्राहक भी बन जाता है। इस तथ्य को समझने के लिए शास्त्रों के प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रतिदिन ससार में, अरे तुम्हारे पड़ौस में ही, ऐसी घटनाएँ घटती हैं।

कषाय के मुख्य चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध के आवेश में मनुष्य अंधा हो जाता है। वह पागलपन की स्थिति में पहुँच जाता है। उसका मस्तिष्क शून्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में ही कोई-कोई आत्मघात तक कर लेता है। अतएव क्रोध बड़ा ही भयंकर शत्रु है।

मान या अभिमान के वशीभूत हुआ प्राणी भी क्या-क्या अनर्थ नहीं कर डालता ? वह माननीय जनों का अपमान करता है, विनय को तिलांजलि दे देता है उचित-अनुचित का भेद नहीं करता, अपने आपको सब कुछ समझता है और दूसरों को कुछ भी नहीं समझता। पर वह यह नहीं सोचता कि दूसरों की मेरे विषय में क्या सम्मत्ति है ? अहंकारी मनुष्य अपने आपको चाहे हिमालय से भी बड़ा समझे, मगर दूसरे लोग उसे तुच्छ या क्षुद्र ही समझते हैं। अहंकारी आदमी आदर चाहता है किन्तु उसे घृणा मिलती है। आदर तो विनयवान् को प्राप्त होता है।

मायाचार घोर पाप-बंध का मूल है। मायाचार करने वाले प्राणी तिर्यंचगति के पात्र होने हैं। अर्थात् उन्हें पशुओं और पक्षियों की योनि में जन्म लेना पड़ता है। मायाचारी की बात पर किसी को विश्वास नहीं होता। मायावी मनुष्य छल-कपट करके दूसरों के लिए जाल बुनता है, मगर अन्ततः वह स्वयं ही अपने बुने जाल में फँसता है।

'लोभ पाप का बाप बखाना।' वास्तव में लोभ समस्त पापों का जनक है। संसार में कौन-सा ऐसा पाप है जिसे लोभी न कर सकता हो ? लोभी हत्या भी कर डालता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुकर्म का सेवन करता है और परिग्रह को बढ़ाता जाता है। अतएव जिसे पापों से अपनी आत्मा की रक्षा करना हो, उसे सब से पहले लोभ का त्याग करना चाहिए। लोभी मनुष्य सुख का स्वाद लेना नहीं जानता। वह दुःखों को भोगने और पापों का उपार्जन करने के लिए ही जीवित रहता है। बिचारा लोभी पराये सुख के लिए दुःखों को सहन करता है। एक कवि ने ठीक ही कहा है—

यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरम्,
गाहन्ते गहनं समुद्रमथनक्लेशं कृपिं कुर्वते।
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासंघट्टदुःसंचरं,
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितम्॥

लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य क्या क्या नहीं करता है? बहुत-से लोग भयानक और दुर्गम अटवी मे भटकते फिरते हैं; बहुत-से स्वदेश को त्याग कर परदेश में मारे-मारे फिरते हैं कोई समुद्र का मथन करते हैं. कोई रात-दिन पसीना बहाकर खेती करते हैं, कोई कंजूस स्वामी की सेवा करते हैं, कोई भयकर संग्राम मे अपने प्राणों को झौक देते हैं! यह सब लोभ की ही करामात है।

लोभ के विषय में एक विद्वान् ने कितनी सही बात कही है:—

लोभाविष्टो नरो वित्तं, वीक्षते न स चापदम्।
दुग्धं पश्यति मार्जारो न तथा लगुडाहतिम्॥

विलाव की निगाह दूध पर ही रहती है। वह यह नहीं देखता कि दूध पीने जाएँगे तो कमर पर लाठी का प्रहार होगा। इसी प्रकार लोभी पुरुष केवल धन को देखता है, उस धन के पीछे कैसी-कैसी मुसीबतें छिपी हुई हैं, यह उसे दिखाई नहीं देता। लोभ उसकी आँखों को अन्धा बना देता है।

भाइयो! यह लोभ महान् प्रमाद है। इस प्रमाद के वश होकर मनुष्य विवेक को भूल जाता है और कोई भी अकर्त्तव्य कर्म करने से नहीं चूकता।

मातरं पितरं पुत्रं, भ्रातरं वा सुहृत्तमम् ।
लोभाविष्टो नरो हन्ति, स्वामिनं वा सहोदरम् ॥

लोभ के वशीभूत हुआ नर माता, पिता, पुत्र, भ्राता और प्रिय से प्रिय मित्र, अपने स्वामी और सहोदर भाई तक की हत्या करने में सकोच नहीं करता।

जगत् के इतिहास को जाने दो, भारतवर्ष के ही इतिहास को अगर देखोगे तो पता चलेगा कि राज्य तथा सम्पत्ति के लोभ में अंधे हुए लोगों ने अपने बाप के प्राण लिए हैं, भाइयों को जहर दिया है, माता के प्राण लिये हैं और स्वामी के खून से अपने हाथ रगे हैं। और आज भी इस प्रकार की घटनाएं सदैव घटती रहती है।

इस तरह विचार करने से विदित होगा कि कषाय प्रमाद भी मनुष्य को बेभान, कर्त्तव्य ज्ञान हीन, विवेक विकल और धर्म तथा नीति से च्युत करने वाला है अतएव यह भी ससार भ्रमण का कारण है। कषाय से कर्मों का बध होता है और आत्मा दु.खों का भाजन होता है।

पांचवां प्रमाद विकथा है। विकथा का अर्थ है निष्प्रयोजन एव आत्मा को गिराने वाली बाते करना। जिनसे तुम्हें सरोकार नहीं है, जिन बातों से तुम्हें कोई लाभ नहीं है, ऐसी फिजूल बातें कह कर अपने हृदय को मलिन क्यों करते हो? अमुक स्त्री खूबसूरत है, अमुक देश की स्त्रियाँ बदसूरत होती हैं, उस देश में ऐसा भोजन बनाया जाता है, अमुक राजा ऐसा है,

वैसा है, आदि-आदि निरर्थक बातें करके वृथा ही कर्म बंध करना योग्य नहीं है। दूसरों की निन्दा या प्रशंसा करने से तुझे क्या मिलने वाला है? बेमतलब की बातें करने में जो समय नष्ट करता है, उसे ईश्वर के भजन में क्यों नहीं लगाता? ईश्वर का भजन करेगा तो तेरे चित्त को शान्ति मिलेगी और तेरी आत्मा का उद्धार हो जायगा। हे भद्र पुरुष! अगर तू चतुर है और अपनी भलाई बुराई को भलीभाँति समझता है तो हमारी इस सलाह और प्रेरणा की क्यों उपेक्षा करता है? निरर्थक बातें बना कर अपने भविष्य को कंटकमय बनाना कहां की बुद्धिमत्ता है? प्रयोजन से पाप करने वाला कदाचित् क्षम्य हो सकता है किन्तु निष्प्रयोजन ही आत्मा को पाप के भार से लादने वाला कैसे क्षम्य समझा जा सकता है?

भाइयों! यह पांचों प्रमाद कौरव हैं। अगर कौरव विजयी होंगे तो पाण्डव हार जाएँगे। अतएव होशियार रहो। कब तक इनके चंगुल में पड़े रहोगे? आखिर अपनी शक्ति का भी विचार करो। तुम अपनी शक्ति को अगर पहचान लो और उसका सदुपयोग करना आरंभ कर दो तो आत्मा की विरोधी शक्तियां तत्काल नष्ट हुए बिना न रहेंगी। अतएव अगर आत्मा में अपूर्व और अद्भुत शक्ति उत्पन्न करता है तो कभी, क्षण भर के लिए भी प्रमाद में न पड़ो। अपने मन की चौकसी करते रहो और जब जो कुछ भी बोलो तोले बिना मत बोलो।

जीभ पर नियंत्रण रखना बहुत आवश्यक है। जीभ के द्वारा बहुत पाप होते हैं। निर्ग्रन्थ प्रवचन का ग्यारहवां अध्याय वचन के संबध में ही है। भगवान् ने असत्य भाषण करने की

मनाई की है और जो सत्य दूसरों के लिए पीड़ाकारी हो, अशांति-जनक हो, जिससे किसी प्रकार का अनर्थ होने की संभावना हो, ऐसा सत्य वचन बोलना भी उचित नहीं है।

वीतराग देव ने सत्य की बड़ी महिमा गाई है। प्रश्न-व्याकरण सूत्र में कहा है—

ते सच्चं भयवं।

अर्थात् सत्य भगवान् है।

भगवान् जब स्वयं अपने मुखारविन्द से सत्य को भगवान् कहते हैं तो सत्य की महिमा को साधारण मनुष्य कैसे कह सकता है ? वास्तव मे सत्य महान् है और उसकी महत्ता का पूरी तरह वर्णन करना संभव नहीं है। सत्य के अभाव में कोई भी धर्म नहीं टिक सकता। अन्यान्य धर्म अगर वृक्ष, डाली, टहनी और पत्ता हैं तो सत्य को उन सब का मूल मानना होगा। जैसे मूल के उखड़ जाने पर वृक्ष धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार सत्य के अभाव में सभी धर्मों का अभाव हो जाता है। इसीलिए ससार के सभी धर्मशास्त्रों में सत्य को ऊँचा स्थान दिया गया है। भिन्न-भिन्न धर्म और-और बातों में भले मतभेद रखते हैं, किन्तु सत्य के विषय में किसी का मतभेद नहीं है। सत्य की महिमा को सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं यह सत्य की सब से बड़ी महत्ता है और विजय है।

इतना होने पर भी अगर निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि जैन शास्त्रों मे सत्य के सम्बन्ध मे जिस गहराई, सूक्ष्मता और अविकलता के साथ वर्णन किया गया है, वह

अन्यत्र मिलना कठिन है। जैन शास्त्रों में बड़ी ही सावधानी के साथ सत्य का विश्लेषण किया गया है। उसे विस्तार से कहने का समय नहीं है। अगर आप सत्य का विस्तृत स्वरूप समझना चाहते हैं तो आप दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और प्रश्न व्याकरण आदि शास्त्रों का स्वाध्याय करें।

जो बात जैसी देखी या सुनी हो और जो जैसी हो, उसे उसी रूप में कहना सत्य है। मगर सत्य की यह परिभाषा पूरी नहीं है। जिस वचन से किसी पर विपत्ति आती हो, उसे कहना उचित नहीं है। ऐसी बात सत्य की परिभाषा में नहीं आती। सत्य अहितकर नहीं होना चाहिए। किसी के मर्म को चोट पहुँचाने वाला भी नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ आप किसी जगह जा रहे हैं। रास्ते में आपको एक हिरन भागता हुआ मिला और किसी तरफ चला गया। उसके थोड़ी देर बाद एक शिकारी आपके पास पहुंचा। वह आपके सामने खड़ा होकर पूछता है क्या आपने हिरन को जाते देखा है?

हिरन को आपने जाते जरूर देखा है और आप यह भी समझते हैं कि अगर मैं सही-सही बात कह दूंगा तो हिरन मारा जायगा। ऐसी स्थिति में आपका क्या कर्त्तव्य है? अगर आप सत्य कहते हैं तो घोर हिंसा के कारण बनते हैं और यदि कह देते हैं कि मैं ने नहीं देखा है, तो असत्य के पाप के भागी बनते हैं। शास्त्रकार हमारा पथप्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि ऐसी स्थिति में मौन रहना ही श्रेयस्कर है। ऐसे अवसर पर अगर सत्य बोला जायगा तो वह सत्य नहीं होगा। हिंसाकारी वचन सत्य की कोटि में नहीं है।

इसी प्रकार काणे को काणा कहना, अन्धे को अन्धा कहना और दिवालिये को दिवालिया कहना भी निषिद्ध है, क्योंकि इससे दूसरे के चित्त को व्यथा पहुंचती है।

आशय यह है कि सत्य वचन भी वही बोलने योग्य है जो हितकर हो—कम से कम अहितकर न हो और पीड़ाजनक न हो।

जो वचन कुछ अंशों में सत्य और कुछ अशों में असत्य हो, वह भी बोलने योग्य नहीं है। फिर एकदम असत्य तो बोलने योग्य हो ही कैसे सकता है?

एक भाषा ऐसी होती है जो सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं कही जा सकती। ऐसी भाषा बोलने से अगर किसी को कष्ट न पहुँचता हो तो उसके बोलने मे हानि नहीं है। इसके अतिरिक्त जिसमें कठोरता नहीं है, सन्देह नहीं है, ऐसी सत्य भाषा भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार बोलने योग्य है।

लोकव्यवहार में लोग कहते हैं—यह रास्ता फला गाँव को जाता है, यह घड़ा चू रहा है, गॉव आ गया, आदि-आदि। इन वाक्यों पर जरा ध्यान दीजिए। क्या कभी रास्ते को जाते किसी ने देखा है? राहगीर रास्ते पर आते और जाते हैं, परन्तु रास्ता तो जहां का तहां ही रहता है। इसी तरह घड़े में रक्खी हुई चीज़ चूती है परन्तु, घड़ा जहां का तहां रक्खा रहता है। गांव कहीं आता जाता नहीं है। फिर भी लोक में आम तौर पर ऐसी भाषा बोली जाती है। अब सवाल यह है कि इस भाषा को सत्य माना जाय या असत्य माना जाय? जैसा कि अभी कहा जा चुका है, यह भाषा सत्य तो है नहीं तो क्या इसे झूठ मानें?

ऐसा बोलने वालों के मन में यह भावना या खयाल नहीं होता कि हम असत्य बोलें और न सुनने वाले ही इसे असत्य मानते हैं। अतएव शास्त्रकार इसे व्यवहार भाषा कहते हैं। ऐसी लोकप्रचलित, व्यवहार भाषा को बोलना निषिद्ध नहीं ठहराया गया है। व्यवहार भाषा के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जैसे—'चूल्हा जलता है।' वास्तव में ईंधन जलता है मगर लोग कहते हैं कि चूल्हा जलता है। यह भी व्यवहारभाषा है। इसी प्रकार कपड़े को अंगरखी, कुर्त्ता, टोपी आदि जो सज्ञाएं दे दी जाती हैं, उन्हें उसी सज्ञा से पुकारना भी निषिद्ध नहीं है। अलबत्ता बोलते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई शब्द ऐसा मुंह से न निकले जिससे किसी के चित्त को व्यथा पहुंचती हो। शब्द कर्कश और कठोर भी नहीं होना चाहिये। कठोर भाषा बोलने से कई सुनने वाले मर तक जाते हैं। एसा अनर्थ उत्पन्न करने वाली सत्य भाषा भी बोलने योग्य नहीं है। तुमने कोई सत्य बात कही और दूसरे के प्राणों पर आ बनी तो वह सत्य घातक सिद्ध हुआ। ऐसी भाषा बोलने से आत्मा के साथ पाप चिपक जाते हैं।

बोलना भी जैनशास्त्रों के अनुसार एक उत्तम श्रेणी की कला है। कला सत्य, शिव और सुन्दर होनी चाहिए। अतएव जो बोल सत्य होने पर भी अशिव (अकल्याणकारी) और असुन्दर है, वह इस कला की परिधि में नहीं आएगा।

भाषण सम्बन्धी और भी नियम हैं। मान लीजिए दो मनुष्यों में कुश्ती हो रही है, अथवा दो परस्पर विरोधी सेनाओं में युद्ध हो रहा है और बड़ी धूमधाम मची हुई है। ऐसी स्थिति में

सत्य की साधना या उपासना करने वाले को यह नहीं कहना चाहिए कि इसकी विजय हो और उसकी पराजय हो। ऐसा कहना योग्य नहीं है। प्रथम तो हार-जीत का कोई ठिकाना नहीं है। कौन जानता है अंत में भविष्य में कौन जीतेगा और कौन हारेगा? हार और जीत किसी की इच्छा पर निर्भर नहीं है। किसी के चाहने या कहने से कोई हार नहीं सकता और न जीत ही सकता है। गत महायुद्ध के प्रारम्भ मे जर्मनी की सेनाओं ने कितना प्रभाव जमा लिया था? ऐसा जान पड़ता था कि हिटलर की सेना अजेय हैं और वे सारे यूरोप को अपने पैरों तले कुचल डालेंगी। बहुत-से लोग ऐसा कहते भी थे। मगर अन्त में ऐसा कहने वाले लोगों की भविष्य-वाणी गलत साबित हुई और जर्मनी बुरी तरह पराजित हुआ। समस्त यूरोप पर अपने आधिपत्य का स्वप्न देखने वाला हर हिटलर कब, कैसे और कहां गायब हो गया, पता ही नहीं चला। इस प्रत्यक्ष उदाहरण से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि युद्ध मे किसी के जय-पराजय की भविष्य-वाणी करना योग्य है और न किसी के जय-पराजय की वृथा भावना करना ही उचित है। दो आदमी अथवा दो दल आपस में लड़ते हैं और आप निरर्थक ही विषमभाव धारण करके अपनी आत्मा को मलिन बनाते हैं। विशेषतया प्राणी मात्र पर समभाव रखने वाले साधु तो किसी भी पक्ष की जय-पराजय की भावना नहीं रख सकते। वे आत्मिक विजय को महत्त्वशाली मानते हैं, शस्त्रों सम्बन्धी विजय का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है।

भगवान् फरमाते हैं कि हँसी के आवेग मे भी अकसर असत्य भाषण हो जाया करता है। अतएव जो सत्य का पालन

करना चाहता है उसे हँसी मजाक करते समय भी विवेक रखना चाहिए। दूसरों की हँसी नहीं उड़ानी चाहिए। इससे दूसरे का दिल दुखता है। कहा भी है—

बुड्ढे बुजुर्ग जो कहते हैं, वह मसल जहां में अजहर है।
खांसी सब रोगों की जड़ है और हंसी लड़ाई का घर है॥

भाइयो! सब रोगों की जड़ खांसी और लड़ाई की जड़ हाँसी। अतएव मर्यादा का उल्लंघन करके हँसी-मसखरी करना योग्य नहीं है।

सावद्य कार्य या सावद्य भाषा की अनुमोदना करना भी उचित नहीं है। जैसे किसी ने पचास आदमियों को कत्ल कर दिया। या किसी ने तलवार के एक ही झटके से बकरे की गर्दन अलग कर दी। तो ऐसा करने वाले की तारीफ मत करो। ऐसे पापमय कार्य की प्रशंसा करने से तुम्हारे हाथ क्या आएगा? अलबत्ता उन आदमियों या बकरे के मारने के पाप के भागी अवश्य बन जाओगे।

सत्य की आराधना करने वाले को पद-पद पर विवेक रखना पड़ता है। सत्यवादी को भविष्य सम्बन्धी किसी विषय में निश्चयकारी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए जैसे मैं कल अवश्य जाऊँगा। ऐसा कहने से कभी-कभी असत्य का दोष लग जाता है। संभव है, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि कल न जा सको! हां, कहना आवश्यक हो तो गुंजाइश रखकर कहो। यह कह सकते हो कि कल जाने का इरादा है, अथवा अवसर हुआ या कोई खास कारण न हो गया तो कल जाने की भावना है।

इसी प्रकार कोई दो आदमी आपस में बात कर रहे हों तो बिना पूछे उनके बीच मे मत बोलो। अगर बीच में बोल गये और उन्होंने कह दिया कि चुप रहो, आपसे कौन सलाह मांग रहा है, तुम्हारी इज्जत चली जायगी। कई बाइया भी बीच-बीच मे लप-लप किया करती हैं। बिना पूछे और बिना मतलब बाते बनायी करती हैं। मगर इससे उनका गौरव बढ़ता नहीं, घटता ही है। इसलिए भगवान् के वचनों को याद रखो और बोलने वालों के बीच में अपनी टांग मत अड़ाओ।

इसके पश्चात् भगवान् ने हुक्म दिया है—कि 'पिट्ठिमंसं न खाइज्जा।' अर्थात् किसी की पीठ का मांस न खाओ अर्थात् किसी की गैर मौजूदगी में निन्दा मत करो—चुगली मत खाओ। पीठ पीछे बुराई करना इतना निन्दनीय है कि उसे पीठ का मांस खाना कहा है। अगर तुम्हें किसी की कोई बात पसन्द नहीं है, या किसी के कोई दोष नजर आते हैं और उसे तुम सावधान करना चाहते हो तो पवित्र आशय से, सद्भावनापूर्वक उसके सामने ही, एकान्त में उसे चेतावनी दो। मगर किसी के दोषों की दूसरों के सामने उद्घोषणा मत करते फिरो। ऐसा करोगे तो यही समझा जायगा कि तुम्हारा आशय पवित्र नहीं है। वास्तव में तुम उसे सुधारना नहीं चाहते। तुम्हारे हृदय में उसके प्रति द्वेष की भावना है। इसी कारण तुम उसे बदनाम करना चाहते हो। जब लोग ऐसा समझेंगे तो उसके दुर्गुणों पर तुम्हारे कहने से कोई शायद विश्वास न भी करे, पर परनिन्दा और चुगलखोरी का तुम्हारा अवगुण तो दूसरों पर प्रकट हो ही जायगा। अतएव दूसरों को बदनाम करने से पहले तुम स्वयं बदनाम हो जाओगे। इसके अतिरिक्त भाषा संबंधी जो दोष तुम्हें लगेगा, वह तो अलग

ही है। इसी कारण भगवान् ने परनिन्दात्मक वचन बोलने का निषेध किया है।

हां, अगर तुम पवित्र आशय से किसी का सुधार करना चाहते हो, किसी के दोषों को दूर करना चाहते हो तो इसमें कोई बुराई नहीं है। मगर एकान्त मे कहो और मधुर शब्दों में कहो। ढिंढोरा मत पीटो। याद रखना चाहिए कि निन्दा करने वाला जैसे पाप का भागी होता है उसी प्रकार रुचिपूर्वक परनिन्दा सुनने वाला और सुनकर प्रसन्न होने वाला भी पाप का भागी होता है। अगर निन्दा सुनने वाला बुद्धिमान है तो वह निन्दा करने वाले से कहेगा कि—चलो, मेरे साथ उसके पास चलो और जो कुछ मेरे सामने कह रहे हो, उसके सामने भी कह दो। तभी तुम्हारी बात सच्ची समझी जायगी। यह सुनकर निन्दा करने वाला अगर सामने जाने से आनाकानी करे तो समझना चाहिए कि यह झूठी निन्दा कर रहा है। और फिर उससे साफ-साफ कह दो कि हम ऐसी बातें सुनना पसन्द नहीं करते।

दूसरे के हृदय में घाव कर देने वाले वचन बोलने की भी भगवान् ने मनाई की है। देखो, बंदूक, तलवार, भाला आदि शस्त्रों से लगा हुआ घाव तो अच्छा हो सकता है—कुछ दिनों में वह घाव भर सकता है, मगर वचन रूपी गोली अन्तरतर की गहराई मे जब पैठ जाती है तो उसका निकलना बहुत कठिन हो जाता है। वचन का बाण बड़ा ही तीखा होता है। वह जन्म-जन्मान्तर में भी अपना असर दिखलाता है। वचन का बाण कान के द्वारा सीधा हृदय में घाव करता है। कहा है—

मूरख का मुख है धनुष, वचन विषैला तीर।
खींची मारे कान पर, सालै सकल शरीर॥

भाइयो! वचन का बाण लगता तो कान पर है, मगर सारे शरीर को वेदना पहुंचाता है। जब किसी युवती स्त्री का पति मर जाता है तो उसकी मूर्ख सासू अपनी बहू को बड़े ही मर्मवेधी वचन कहती है। वास्तव में मरना और जीना किसी के हाथ की बात नहीं है। क्या कोई भी स्त्री विधवा होना पसंद करती है? खास तौर से हिन्दू समाज में और उसमे भी उन उच्च मानी जाने वाली जातियों मे, जिनमे स्त्री का पुनर्विवाह नहीं होता कोई भी स्त्री अपने पति का मरना नहीं चाह सकती। फिर भी जब पति का देहान्त हो जाता है तो सब से अधिक वेदना संभवत. उसकी पत्नी को ही होती है। उसकी सारी जिंदगी अधकारमय हो जाती है। उसके समस्त सुख धूल में मिल जाते हैं। वह जब घोर से घोर व्यथा का अनुभव करती है और उसे बड़ी हार्दिक सान्त्वना एव ढाढस की आवश्यकता होती है तब सासू ऊपर से उस पर गुलाब के फूल (!) बरसाती है! कहती है--पिशाचिनी मेरे बेटे को खा गई। तू कैसी कुलच्छनी है जो मेरे घर को बर्बाद करने आई है! अफसोस! ऐसा कहने वाली सासू ही वास्तव में पिशाचिनी कहलाने योग्य है। वह अज्ञान दशा मे पड़ी हुई है। ऐसे शब्द मुंह से निकालने वाली सासू का हृदय पत्थर से भी अधिक कठोर समझना चाहिए और साथ ही उसका अविवेक भी चरम सीमा का गिना जाना चाहिए।

[illegible]

[illegible] है। [illegible]

[illegible] है। [illegible]

[illegible] हैं—[illegible]। [illegible] कुत्ती [illegible] के पास [illegible] है और कोई [illegible] है और [illegible] जाती है या किसी [illegible] है, तब वह कुत्ती भाग-भाग कर औरों के [illegible] है और [illegible] के घर में घुसती है। इधर उसे कोई [illegible] है और उधर [illegible] हो जाती है। उसे [illegible] है। वह बेचारी हैरान और परेशान हो जाती है। उसे किसी की तरह, थोड़ी-सी देर के लिए भी चैन नहीं मिलता। ज्यों ही वह किसी के घर में घुसती है, घर वाला डंडा लेकर दौड़ता है, और उसे भगा देता है। दूसरे के घर में पहुंचती है तो वह भी इसी तरह उसका सत्कार करता है। उसे कोई घर में नहीं घुसने देता। यही हालत उस आदमी की होती है जो अपने कर्तव्य का ध्यान न रखता हुआ वृथा बकवाद करता है और दूसरों की बुराई करता फिरता है। लोग कहते हैं—ऐसे बेईमान से पाला न पड़े तो अच्छा है। अगर वह किसी की दुकान पर पहुंच जाता है तो दुकानदार कोई मीठा-सा बहाना करके वहां से टरक जाता है। आखिर नंगे आदमी से सभी डरते हैं।

पहले की बात है। उदयपुर दरबार ने एक दुकान खुलवाई, इसलिए कि जिसे कहीं से न मिले उसे यहां से देना। जब दुकान का मुहूर्त हुआ तो दरबार ने कहा—जो हमसे बड़ा हो उसे उधार मत देना। दरबार की यह बात सुनकर लोगों को आश्चर्य हुआ। किसी ने पूछा—अन्नदाता, आप से भी कोई बड़ा है क्या? तब दरबार बोले—जो नागे हैं वे मुझसे भी बड़े हैं। उन्हें मत देना।

नागे के मुँह से ऐसे शब्द निकलते हैं कि सभी उसे धुतकारते हैं। किसी राजकुमार ने एक सुअर का बच्चा पाला। बच्चा बड़ा सुन्दर था। राजकुमार ने उसके बैठने के लिए मखमल के गद्दे बनवाये और खाने का भी उत्तम प्रबंध किया। धीरे-धीरे वह बड़ा हो गया। एक दिन उसके खाने के लिए चांवल सामने रखे थे। पास में कोई छोटा-सा बालक खेल रहा था। वह बालक टट्टी चला गया तो सुअर चांवल छोड़ कर टट्टी खाने लगा। यह देखकर राजकुमार कहने लगा—खेद है कि मैंने इसके खाने का ऐसा उत्तम प्रबध किया, फिर भी इसकी जन्म-जात आदत नहीं गई।

इसी प्रकार जो मनुष्य धर्मशास्त्रों के उपदेश सुनता है, परन्तु सब कुछ सुनने के पश्चात् भी अपनी गंदी आदतों को नहीं छोड़ता, उसे क्या कहा जाय? आप लोगों को ऐसा नहीं होना चाहिए।

क्रोध के आवेश में आ जाने पर भी भाषा पर संयम नहीं रहता और जब सयम नहीं रहता तो सत्य-असत्य का विवेक भी जाता रहता है और जब विवेक चला जाता है तो असत्य भाषण हो जाता है। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य जब क्रोध में आता है तो भद्दे शब्दों का प्रयोग करता है और फिर उसे उन शब्दों के लिए लज्जित होना पड़ता है। बनिया मांस नहीं खाता लेकिन क्रोध में आकर बोलता है कि 'तुझे कच्चा ही खा जाऊँगा। तेरा खून पी जाऊँगा'। ऐसी भाषा सभ्य और धार्मिक पुरुषों को कभी नहीं बोलनी चाहिए। कदाचित् मन पर काबू न रहा हो और आवेश मे ऐसे शब्द निकल गये हों तो प्रायश्चित लेकर शुद्धि कर

बहिनो ! सावधान होकर मेरी बात सुनो। जिस प्रसंग पर तुम्हारे हृदय से अपार करुणा का प्रवाह बहना चाहिए, उस प्रसंग पर तुम कठोरता और निर्दयता की भाषा बोलोगी तो इसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होगा। ऐसा बोलने से अगर वैर बंध जायगा तो न जाने कितने जन्मों तक नहीं छूटेगा। यह वैर महाभयकारी है। अतएव अगर किसी के घर में भौजाई या बहू विधवा हो तो उसके प्रति एक भी कठोर शब्द का, भूल कर भी, प्रयोग नहीं करना चाहिए। उसके साथ सदैव सद्भावना-पूर्ण और स्नेहमय व्यवहार करना चाहिए। अरे वह तो सती है! ब्रह्मचारिणी है, शील की मूर्ति है! उसका तो आशीर्वाद लेना चाहिए। उसे कठोर वचन कह कर व्यथा क्यों पहुँचाते हो? क्यों पाप का बंध करके अपने को गिराते हो? मैं अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ। नीति और धर्म का मार्ग बतलाना मेरा कर्त्तव्य है और दायित्व है। वह मैं कर रहा हूँ। लेकिन तुम्हें आगे की जैसी गति में जाना होगा, वैसा ही बोलेगे।

भाइयो और बहिनो! निर्ग्रन्थ प्रवचन का श्रवण करके कुछ सार लेना। तुम्हें मक्खन ही मक्खन दे रहा हूँ। सुना मक्खन, खाया मक्खन और फिर न आया लक्खन, तो मैं क्या कर सकता हूँ? जगत में बड़े से बड़ा सौभाग्य जो है वह तुम्हें प्राप्त हुआ है। वीतराग प्रभु की वाणी को श्रवण करने का सुयोग तुम्हें मिल रहा है। अगर इस सुयोग को पाकर भी अपने आत्मा को निर्मल न बनाओगे तो तुम्हारी क्या गति होगी? फिर कब और किस प्रकार तुम्हारा उद्धार होगा?

बहुत से लोग अपने आपको समाजसुधारक समझते हैं और जब किसी सभा या समिति में व्याख्यान देने लगते हैं तो समाज को पानी पी-पी कर कोसते हैं। कहते हैं—समाज के बड़े बड़े आदमी अंधे हो गये हैं, नालायक हो गये हैं, स्वार्थी और पक्षपाती हो गये हैं। उन्हें बोलने का भान नहीं रहता और जैसा जी में आता है, कहते जाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि जिस समाज की निन्दा करते हैं, उसी समाज के सदस्य या अंग हम स्वयं हैं और समाज की निन्दा हमारी भी निन्दा है। ऐसे लोगों के हृदय में समाज की बुराइयों के प्रति असन्तोष हो सकता है और उन बुराइयों को दूर करने की सराहनीय भावना भी हो सकती है, फिर भी बोलने में विवेक तो होना चाहिए। विवेकहीन होकर जो मन में आया वही कह देने से, दूसरों को कोसने और फटकारने से तो कोई बुराई दूर नहीं होगी। जो आदमी भैंस को दुहना भी चाहता है और डण्डे भी मारता है, वह बुद्धिमान् नहीं कहलाता। डण्डे मारने से भैंस लातें देगी, दूध नहीं देगी।

हे भाई! तेरे हृदय में समाज को सुधारने की अगर प्रशस्त भावना जागी है तो हम तेरी प्रशंसा करते हैं, मगर तू उतावला मत बन। थोड़ा धैर्य रख, जरा विवेक से काम ले, आवेश में क्यों आता है? अपनी बुद्धिमत्ता को क्यों त्यागता है? समाज को उलटा भड़का कर विरोधी क्यों बनाता है? समाज को ऊँचा उठाने चला है तो खुद नीचे क्यों गिरता है? पहले तू बोलने में विवेक नहीं रक्खेगा तो पीछे तुझे ही पछताना पड़ेगा। दूसरों को नालायक कहने से तुम लायक नहीं बन जाओगे। इसलिए जो कुछ कहना चाहते हो, उसे शांति से क्यों नहीं कहते?

लेनी चाहिए और जिससे ऐसे शब्द कहे हों उससे क्षमा मांग लेनी चाहिए। ऐसा मत कहो कि—मैंने तो ऐसा कहा ही नहीं है। अथवा मैंने ठीक ही कहा है। ऐसा कहने से दोहरा पाप सिर पर चढ़ता है। शेख सादी साहब ने भी कहा है:—

चिदानी तकब्बुर चिदा में कुनी।
खता में कुनी ओ खता मे कुनी॥

करीमा में लिखा है कि पहले तो आदमी ने कोई बुरा काम किया हो और फिर कह दे कि बुरा नहीं किया है; मैंने तो ठीक ही किया है. पहले तो गुनाह करे और फिर गुनाह करने से इकार करे तो दोहरा गुनाह हो जाता है। इसलिए जब कभी कोई गलती हो जाय तो उस गलती को दिल से कबूल कर लो। कह दो कि मैं गुस्से में आ गया था और मेरे मुँह से ऐसे शब्द निकल गये हैं जो नहीं निकलने चाहिए थे।

इसके बाद भगवान् फरमाते हैं कि वैर बढ़ाने वाली भाषा का भी प्रयोग मत करो। हां, जिस देश मे जैसी भाषा बोली जाती हो, वहां वैसी भाषा बोलने मे हानि नहीं है, शर्त यही है कि पूर्व कही हुई बातों का ध्यान अवश्य रक्खा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ—संस्कृत भाषा में कमल को पकज कहते हैं। यद्यपि कमल पानी में उत्पन्न होता है किन्तु भाषा शास्त्र के अनुरोध से उसे पंकज (कीचड़ में जन्मने वाला) कहना दूषित नहीं है।

इसके अतिरिक्त जिस वस्तु का जो नाम हो उसे उस नाम से कहने में भी कोई हानि नहीं है, चाहे उसमें नाम के अनुसार गुण हों और चाहे न हों। कल्पना कीजिए कोई दुबला-

पतला मरियल सा आदमी है। कठिनाई से उठ-बैठ सकता है। चार कदम चलने की उसमें शक्ति नहीं है। मगर उसका नाम है- नाहरसिंह। नाहर-सिंह में पराक्रम का बड़ा गुण होता है और इस आदमी में इस गुण का सर्वथा अभाव है। ऐसी स्थिति में उसे नाहरसिंह कहना उचित है या नहीं? नाहरसिंह कहने से सत्य की मर्यादा भंग होती है या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि उस दुर्बल मनुष्य को भी नाहरसिंह नाम से पुकारने में कोई दोष नहीं है। क्योंकि जब किसी का नाम लेकर व्यवहार किया जाता है तो व्यवहार करने वाले की दृष्टि उसके गुणों की तरफ नहीं होती। उसकी दृष्टि सिर्फ उसके नाम की ओर होती है, जिससे लोकव्यवहार में या पहचान मे सुभीता हो। अगर किसी का नाम गुणनिष्पन्न हो अर्थात् किसी में नाम के अनुसार गुण भी विद्यमान हों तब भी नाम लेकर पुकारते समय गुणों को ध्यान में नहीं लिया जाता। नाम रखने का उद्देश्य किसी के गुणों को प्रकट करना नहीं है, वरन् व्यवहार में, पह-चान में सुविधा पैदा करना है। अतएव नाम के अनुसार शब्द प्रयोग करने से असत्य का दोष नहीं लगता है क्योंकि यह कथन नाम सत्य है।

इसी प्रकार किसी वस्तु मे किसी की स्थापना कर ली गई हो तो जिसकी स्थापना की गई है, उसके नाम से व्यवहार करने में भी कोई हानि नहीं है। उदाहरणार्थ—किसी पाषाण पर सिन्दूर पोतकर लोगों ने उसे भैरु जी मान लिया हो और लोग उसे भैरु जी के नाम से पुकारते हों तो आप भी उस पाषाण को भैरु जी कह सकते हैं। शतरंज के मोहरों में राजा, वजीर, हाथी, ऊँट, घोड़ा और प्यादों की स्थापना कर ली जाती है। उन मोहरों

को राजा, वजीर आदि शब्दों से कहते हैं ऐसा कहना दूषित नहीं है, क्योंकि वह स्थापना सत्य है।

इसी प्रकार कोई वस्तु अगर किसी उपमा से पुकारी जाती हो तो उसे वैसा कहने में कोई दोष नहीं है। उदाहरणार्थ— किसी ने प्रश्न किया—समुद्र कैसा है ? उत्तर दिया गया—पानी से भरे हुए कटोरा जैसा। यह कथन उपमासत्य है।

भाइयो ! भाषा के सम्बन्ध में संक्षेप से कहने पर भी काफी कहा जा चुका है। अगर आप इन सब वातों पर विचार करके, सदोष भाषा को त्याग देंगे और सत्य, हित, मित एवं प्रशस्त भाषा का ही प्रयोग करेंगे तो पाप वंध से बचने के साथ ही साथ लोक में भी प्रतिष्ठा के पात्र बन जाएंगे।

इसके बाद भगवान् फरमाते हैं कि संसार में कई तरह के लोग हैं जो संसार की रचना भिन्न-भिन्न प्रकार से बतलाते हैं। कोई कहते हैं कि जड़-चेतनमय और सुख-दुखमय इस दुनिया को देव ने बनाया है। कोई कहते हैं कि ब्रह्माजी ने सृष्टि की रचना की है, किसी-किसी की मान्यता है कि ईश्वर ने जगत् को बनाया है और कोई-कोई कहते हैं कि सतोगुण, तमोगुण और रजोगुण वाली प्रकृति से जगत् बना है। किसी की मान्यता है कि जैसे मोर के पखों का रग, विना किसी के बनाये कुदरती है, सांठे मे मिठास कुदरती है और तिलों में तेल कुदरती है, उसी प्रकार यह जगत् भी कुदरती है। कोई मानते हैं कि अकेले शंभु ने सारे संसार की रचना की है तो कोई कहते है कि विष्णु ने रचना की है।

सब से पहले विष्णु ने सृष्टि रचना करने का विचार किया। फिर रचना करने के लिए शक्ति पैदा की और तब सारा ब्रह्माण्ड रच डाला। सृष्टि रचने के वाद विचार किया कि इसमें सब का समावेश किस प्रकार होगा? इस विचार के फल स्वरूप उन्होंने यमदूत पैदा किये और फिर सब चीजे बनाई।

किसी-किसी की मान्यता है कि पहले एक अण्डा बनाया और वह फूटा तो उसके आधे हिस्से से मर्त्यलोक बन गया और आधे हिस्से से पाताल लोक बन गया। फिर उनमें और-और चीजें बनी।

इस प्रकार सृष्टि की रचना के संबध में एक दूसरे से भिन्न अनेक मान्यताए हैं। सब लोग अपनी-अपनी मान्यता को सच्ची और दूसरे की मान्यता को मिथ्या कहते हैं।

कोई मानता है कि शक्ति ने हाथ मला तो फफोला हुआ और जब फफोला फूट गया तो उसमे से ब्रह्माजी निकल पड़े। तब शक्ति ने ब्रह्माजी से शादी करने के लिए कहा। ब्रह्माजी बोले-मै तुम्हारा बेटा हुआ, अतः शादी नहीं कर सकता। यह सुन कर शक्ति को क्रोध आगया और उसने ब्रह्माजी को भस्म कर दिया। शक्ति के फिर फोड़ा हुआ और अब की वार उसमे से विष्णु टपक पड़े। उनसे भी शादी करने के लिए शक्ति ने अनुरोध किया। विष्णु ने भी ऐसा करने से इंकार कर दिया तो उन्हें भी शक्ति ने भस्म कर दिया। तीसरी बार फफोले से शिवजी निकले तो शक्ति ने उनके सामने भी वही प्रस्ताव उपस्थित किया। शिवजी ने पूछा-तुम कौन हो? शक्ति ने उत्तर दिया—मै तुम्हारी माँ हूँ। तुमसे पहले भी मेरे दो पुत्र उत्पन्न हो चुके हैं। उन्होंने

मेरे साथ विवाह करना स्वीकार नहीं किया, इस कारण मैंने उन्हें भस्म कर दिया है।

शिवजी बोले—मैं तुम्हारे इस शरीर से विवाह नहीं करूंगा। तुम अपने इस शरीर को बदलो और मेरे दोनों भाइयों को जीवित करो, तब मैं विवाह कर सकता हूँ।

शक्ति ने ऐसा ही किया। अपना शरीर बदल डाला और ब्रह्मा तथा विष्णु को जीवित कर दिया। फिर शिव का शक्ति के साथ विवाह हुआ और यह सृष्टि रची गई।

संसार में जितने भी धर्म और मत हैं, करीब करीब सभी ने सृष्टि के सबध में अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। सभी अपनी-अपनी कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाते हैं। जिसे जैसा सूझता है, वैसा कहते हैं। उपर्युक्त सभी मन्तव्य रेत पर खड़े किये गये महल के समान निर्मूल प्रतीत होते हैं। किसी ने भी गहराई में उतरकर विचार नहीं किया है।

जगत् के संबंध में जैनदर्शन का मन्तव्य बहुत सीधा-सादा है। उसे साधारण समझ वाला मनुष्य भी सरलता से समझ सकता है। उस मान्यता तो दर्शनशास्त्र के अकाट्य और सर्व-सम्मत सिद्धांतों का समर्थन प्राप्त है और विज्ञानशास्त्र भी उसका अनुमोदन करता है।

जैनदर्शन के अनुसार जगत् अनादि और अनन्त है। न उसकी कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी विनाश होने वाला है। विविध प्रकार के निमित्त मिलने पर जगत् बदलता जरूर रहता है, परन्तु कभी शून्य रूप नहीं होता। स्थलभाग कभी जलाशय

बन जाता है और जलाशय समय पाकर रेगिस्तान बन जाते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि आज राजपूताना मे जो लम्बा-चौड़ा रेगिस्तान है, वह हजारों वर्षों पहले समुद्र था। इसी प्रकार जहाँ सघन वन होता है, कुछ वर्षों बाद वहां आधुनिक ढग का, चहल-पहल से भरपूर शहर आबाद हो जाता है और प्राचीन काल के बड़े-बड़े नगर वीरान होकर आज वन का रूप धारण किये हुए हैं। पत्थरों की रगड़ से आग उत्पन्न हो जाती है, पानी से विद्युत् उत्पन्न हो जाता है और हवाओं के अमुक परिमाण में मिलने से पानी बन जाता है। खेत मे पड़ी हुई मिट्टी कुम्हार के हाथों पड़कर मगल-कलश का रूप धारण कर लेती है और वट का छोटा-सा बीज कालान्तर में सैकड़ों हजारों आदमियों को एक साथ शीतल छाया प्रदान करने वाले विशाल वट-वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है। अपनी अद्भुत और अनुपम छटा से अनेकों के मन को मुग्ध कर लेने वाला सुन्दर शरीर देखते-देखते उपेक्षा या घृणा का पात्र बन जाता है और फिर थोड़े ही दिनों में, जब हंस निकलकर चला जाता है तो, लोथ मात्र रह जाता है। लोथ को लोग आग के हवाले कर देते हैं और फिर वह कुछ ही देर में राख का ढेर मात्र रह जाता है! लोग बड़ी हवस के साथ स्वादिष्ट और मधुर भोजन खाते हैं। मगर उसका परिणाम क्या होता है? या तो वह खल भाग बनकर मल-मूत्र आदि का रूप धारण कर लेता है अथवा रस भाग बन कर रक्त, मांस, हड्डी आदि के रूप में पलट जाता है। जिस मधुर भोजन को देखकर मुँह में पानी आजाता था, वही भोजन जब दूसरे रूप मे पलट जाता है तो कोई उसकी ओर देखना भी पसन्द नहीं करता, उसे खाने और छूने की तो बात ही दूर रही।

इस तरीके से अगर विचार किया जाय तो साफ-साफ दिखाई देने लगेगा कि जगत में जितने भी पदार्थ हैं, उन सब में बाह्य और आन्तरिक परिवर्त्तन होते रहते हैं। आप किसी भी चीज के किसी भी रूप पर ध्यान दीजिए। आपको अवश्य मालूम हो जायगा कि वह रूप न शून्य से उत्पन्न हुआ है और न शून्य बन ही सकता है। वह किसी दूसरे अपने पूर्ववर्ती रूप का ही परिणाम है और किसी उत्तरकालवर्त्ती रूप के आकार में पलट जायगा। इस प्रकार आप किसी भी एक पदार्थ पर विचार करेंगे तो आप जान जाएंगे कि उसकी मूल सत्ता अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक बनी रहने वाला है। उसमें प्रति क्षण छोटे-छोटे परिवर्तन हो रहे हैं और समय पाकर बड़े-बड़े परिवर्तन भी हो रहे हैं, वह कुछ का कुछ बनता चला जा रहा है, फिर भी उसकी सत्ता अबाध है, उसके अस्तित्व को कोई विलुप्त नहीं कर सकता। ससार मे या ससार बाहर ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो उसकी सत्ता को नष्ट कर दे और उसे शून्य बना सके। आज तक न कोई सत् पदार्थ असत् बना है और न असत् से किसी सत् पदार्थ को उत्पत्ति हुई है। आप लाख कोशिश कर लीजिए, शून्य से एक परमाणु भी नहीं बना सकते और न एक परमाणु का अस्तित्व मिटाकर उसे शून्य कर सकते हैं।

इस विवेचन से आप समझ गये होंगे कि संसार के समस्त पदार्थ परिवर्तन-शील होते हुए भी नित्य है। अतएव यह अखिल जगत भी ऐसा ही है। वह भी परिवर्तन-शील होता हुआ भी नित्य है। जब हमारे अनुभव से यह बात भलीभाँति सिद्ध होती है तो किस प्रकार माना जा सकता है कि शून्य में से यह सृष्टि टपक पड़ी है ?

आज व्याख्यान का समय पूरा होने आया है। अतएव इस संबंध में अधिक चर्चा न करते हुए सिर्फ इतना ही कहना है कि देव से, या ब्रह्मा से या अंडे से सृष्टि की उत्पत्ति मानना भ्रम है। बहुत-से लोग, कोई भी नाम देकर ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता हर्त्ता मानते हैं। इस संबंध में अवसर हुआ तो फिर कभी विचार करेंगे।

हाँ तो मैं भाषा के विषय में कह रहा था। सृष्टि के विषय में पहले दूसरे लोगों की जो मान्यताएँ बतलाई गई हैं, असत्य हैं; ऐसी मान्यताओं को वचन के द्वारा प्रकट करना भी भाषा संबंधी दोष है। अतएव विवेकशील व्यक्तियों को ऐसे वचनों का उच्चारण नहीं करना चाहिए। कहा है —

थें तो सांचा बोलो बोलजी, सघलां ने व्हाला लागो ॥

देखो, हमेशा सच्ची और प्रियकारी भाषा बोलो। क्या आपको मालूम है कि कई लोग गूंगे क्यों होते हैं? कई लोग अटक-अटक कर या हकला कर क्यों बोलते हैं? कइयों के मुख में बीमारी क्यों हो जाती है? इसका उत्तर यह है कि जिसने दूसरों का दिल दुखाने वाले वचन बोले हैं, दूसरों को गालियाँ दी हैं, पर-निन्दा की है, चुगली की है, उसे अपने इन पापों के फलस्वरूप ही पूर्वोक्त त्रुटियाँ प्राप्त होती हैं।

भाइयो! जीभ आपको प्राप्त हुई है। वह आपके अधिकार में है। आप उसका उपयोग करने में स्वतंत्र है। जैसा उपयोग करना चाहें, कर सकते हैं। आपको कौन रोक सकता है? मगर थोड़ा विचार जरूर करलो। एकेन्द्रिय अवस्था में जीभ प्राप्त नहीं

होती। अनन्त पुण्य का उदय जब आता है तो जिह्वा मिलती है। इस दृष्टि से विचार करोगे तो पता चलेगा कि जिह्वा कोई सस्ती चीज नहीं है। अनन्त पुण्य की पूंजी खर्च करने पर ही वह प्राप्त हुई है। ऐसी अवस्था में उसका दुरुपयोग करके भविष्य के लिए पाप का बंध करना क्या योग्य है ?

जिस जिह्वा से पापों का उपार्जन किया जा सकता है उसी जिह्वा से पुण्य का भी उपार्जन किया जा सकता है और संवर एवं निर्जरा भी की जा सकती है। फिर आप क्या पापों का उपार्जन करना पसंद करेंगे ?

भाइयो ! विवेकवान् पुरुष वही कहलाता है जो पुण्य के योग से प्राप्त हुए साधनों का सदुपयोग करता है। इसके विपरीत जो दुरुपयोग करके उनसे पापों का उपार्जन करता है उससे बढ़कर मूर्ख और कोई नहीं हो सकता। जिह्वा के द्वारा धर्म भी किया जा सकता है और पाप भी किया जा सकता है। कहा भी है—

> वचन बड़ा अनमोल बोल सके तो बोल।
> हिये तराजू तोल कर पीछे बाहर खोल ॥

भाइयो ! बोल बड़ा अनमोल है। किसी के प्रति जब कुछ बोलने की इच्छा करो तो पहले उसे हृदय की तराजू पर तोल लो। अर्थात् यह विचार कर लो कि मैं जो बोलना चाहता हूँ, वही शब्द अगर दूसरा मेरे प्रति बोले तो मुझे कैसा लगेगा ? अगर आप उन शब्दों को अपने लिए पसंद कर सकते हों, प्रिय समझ सकते हों, तो दूसरों के प्रति उन शब्दों का व्यवहार कर सकते

हो। अगर आपका दिल कहे कि ऐसे शब्द सुनना मुझे पसंद नहीं है तो आप भी वे शब्द दूसरों को न सुनावें। जैसे आपकी आत्मा कटुक, कठोर शब्द सुनकर दुखित होती है, वैसे ही दूसरों की आत्मा को भी व्यथा होती है।

अगर आप इस कसौटी पर कस कर वचनों का उच्चारण करेंगे तो निस्सदेह आपका कल्याण होगा, अल्याण न होगा। जहाँ तक संभव हो, मौन रहना सर्वश्रेष्ठ है। अगर मौन रहना संभव न हो तो निरवद्य भाषा के सिवाय और कोई भाषा नहीं बोलनी चाहिए। विवेकपूर्वक बोलने वाला इस लोक में यश पाता है और परलोक में भी सुख पाता है। अगर आपने इस कथन पर ध्यान दिया तो आनन्द ही आनन्द होगा।

ता० १४-६-४८

भगवान् बोले—

स्तुतिः—

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तम्,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? भगवन् ! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ ?

महाप्रभो ! कोई पुरुष कहीं जा रहा हो और रास्ते में उसे एक हाथी मिल जाय । हाथी भी साधारण नहीं, ऐरावत के समान

हो। उसके गंडस्थलों से मद बह रहा हो। उस मद की गंध के लोलुप भौरें उसके चारों ओर मँडरा रहे हों और उसे परेशान कर रहे हों। भौरों के कारण हाथी अत्यन्त ही कुपित हो गया हो। पहले तो हाथी स्वयं मदमाता हो और फिर भौरों ने उसे हैरान करके कुपित कर दिया हो। ऐसी स्थिति में वह कितना उद्धत नहीं हो जायगा? वह हाथी उस रास्ता चलने वाले पुरुष के सामने झपट कर आ रहा हो, तब भी, हे भगवन्! अगर वह पुरुष आपका भक्त है—आपके आश्रय में आया हुआ है, तो उसे लेश-मात्र भी भय नहीं होता है। देवाधिदेव! आपका ज्यों ही 'ॐ ऋषभ' का मंगलमय मन्त्रोच्चारण करता है, त्यों ही वह हाथी मद-हीन-सा हो जाता है और भक्त का बाल भी बांका नहीं होता। जिन भगवान् की ऐसी महिमा है, जिनका प्रभाव ऐसा लोकोत्तर है, जिनका नाम मात्र उच्चारण करने से भक्तों के सकल संकट कट जाते हैं, उन्हीं प्रभु ऋषभदेवजी को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो! भगवान् के नाम में निर्भयता रही हुई है। जो भगवान् का भक्त है, वह भगवान् की आज्ञा पर अन्तःकरण से श्रद्धा रक्खेगा। श्रद्धा रखने से अपूर्व शक्ति की प्राप्ति होती है। उस शक्ति के सामने एक क्या, सैंकड़ों, हजारों मदोन्मत्त हाथियों की शक्ति भी तुच्छ है और कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती।

ऐसी शक्ति को प्राप्त करने के लिए निर्ग्रन्थप्रवचन-भगवान् की वाणी को पढ़ना, समझना और उस पर मनन करना आवश्यक है। आप लोगों को वही वाणी सुनाई जा रही है। आज निर्ग्रन्थप्रवचन-सप्ताह का पांचवां दिन है। तेरहवें अध्ययन तक का संक्षेप मे वर्णन किया जा चुका है। आज आगे के अध्ययनो का

सार आपको बतलाना है। चौदहवें अध्ययन में बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण विषय है। आदि तीर्थङ्कर नाभिनन्दन श्री ऋषभदेव भगवान् ने अपने ९८ पुत्रों को जो उपदेश दिया था, उसमें उसी उपदेश का वर्णन है।

पहले कहा जा चुका है कि इस अवसर्पिणी युग में भगवान् ऋषभ सबसे पहले धर्म प्रवर्त्तक हुए हैं। जब सामाजिक सुव्यवस्था होती है, जीवन नीतिमय बन जाता है, तभी धर्म की प्रतिष्ठा होती है। इसी कारण भगवान् ऋषभदेवजी ने सर्व प्रथम लौकिक-नीतियों की व्यवस्था की और प्रजा का जीवन जब व्यवस्थित हो गया तो लोकोत्तर धर्म की साधना करने के लिए तथा जगत् को उस धर्म का प्रकाश देने के लिए स्वयं साधु बन गये।

साधु बनने से पहले भगवान् ने राज्यशासन को भी सुव्यवस्थित् बनाने की नींव डाल दी थी। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरतजी को अयोध्या का राज्य प्रदान किया था और दूसरे पुत्रों को दूसरे-दूसरे देशों का शासक नियुक्त कर दिया था। फिर भी उस समय देश में एकरूपता नहीं थी। देश अलग-अलग हिस्सों में बँटा हुआ था। राजनीति की दृष्टि से देश के लिए यह अच्छी बात नहीं थी।

भरतजी ने समग्र देश को एकरूपता प्रदान करने के लिए विभिन्न प्रदेशों को एक तंत्र के नीचे लाने के लिए और समस्त प्रजा को एक सरीखा अवसर देने के लिए प्रयत्न किया। सारे भारत पर उन्होंने अपनी विजय-पताका फहराई। समग्र देश को एक झंडे के नीचे खड़ा किया।

आपको स्मरण रखना चाहिए कि आज भारतवर्ष की जो सीमाएं हैं, वे बहुत संकुचित हो गई हैं। बर्मा भारत से पृथक् हो गया है, तिब्बत भी पृथक् है, नेपाल भी अलग है, अफगानिस्तान आदि देश भी अलग हो चुके हैं। और अब सिन्ध सीमाप्रान्त तथा पंजाब और बगाल के कुछ भाग भी पाकिस्तान के नाम से भारत से अलहदा हो गये हैं। मगर पहले ऐसा नहीं था। उस समय भारत की सीमा बहुत विशाल थो। उल्लिखित समस्त देश भारत के ही अन्तर्गत थे। उनके अतिरिक्त और भी बहुतेरे देश जो आज अलग हैं, भारत के ही अश थे। इतनी विशालतर सीमाओं मे भारत ने अपना शासन फैलाया था। आवागमन के आधुनिक त्वरागामी साधन न होने पर भी इतने बड़े भूभाग पर शासन करना साधारण बात नहीं थी मगर भरत चक्रवर्त्ती उस पर शान्तिपूर्वक शासन करने मे समर्थ हो सके थे। इसी से उनकी कुशलता और पराक्रमशालिता का पता चल सकता है।

जैनशास्त्रों के अनुसार चक्रवर्त्ती राजा का पद उसी को प्राप्त होता है जो सम्पूर्ण छह खण्ड वाले भरतक्षेत्र पर अधिकार प्राप्त कर सके। एक भी राजा जब तक स्वतन्त्र रहे तब तक कोई चक्रवर्त्ती नहीं कहला सकता। भरतजी ने और सब राजाओं को अपने अधीन कर लिया था। सिर्फ उनके भाई ही स्वाधीन रह गये। तब भरतजी ने अपने भाइयों के पास सदेश भेजा कि भारत के समस्त राजाओं ने मेरी आज्ञा शिरोधार्य कर ली है, केवल आप शेप रह गये हैं। आप और हम तो एक ही हैं—सगे भाई हैं, अतः आप भी मेरी आज्ञा शिरोधार्य कर लें ताकि समग्र देश एक ही ध्वजा के नीचे आ जाय।

इस आशय का भरतजी का संदेश पाकर भगवान् ऋषभदेवजी के ९८ पुत्र एकत्र हुए। उन्होंने संदेश पर विचार किया। विचार करने के पश्चात् वे इस निर्णय पर आये कि भरतजी बड़े भाई हैं और हम लोग उनके अनुज हैं। अतएव जहां तक हमारे आपसी संबंधों का सवाल है, हम उनकी आज्ञा मे चलने को तैयार हैं। मगर राज्य के संबंध में उनकी अधीनता स्वीकार नहीं कर सकते। भरतजी आदिनाथ के पुत्र हैं तो हम भी उन्हीं के पुत्र हैं। भरतजी को पिताजी से राज्य मिला है तो हमें भी पिताजी ने ही राजा बनाया है। ऐसी स्थिति मे हमें उनकी अधीनता क्यों स्वीकार करनी चाहिए? पिताजी ने जब राज्य का बंटवारा कर दिया है तो अपने-अपने हिस्से में सब को संतुष्ट रहना चाहिए। एक दूसरे को अपने अधिकार में लाने की चेष्टा क्यों करे?

भाइयो! इस युग की यह पहली राजनीतिक समस्या थी। उससे पहले राज व्यवस्था नहीं थी, अतएव इस प्रकार की समस्या उत्पन्न होने का कोई अवसर ही नहीं आया था। जब मनुष्य-समाज की रचना हुई तो राज्यव्यवस्था भी आवश्यक हो गई। जब राज्य व्यवस्था हुई तो उसके साथ ही साथ अनेक प्रकार की उलझनें भी पैदा हो गई।

जैसे अंगरेजों के हट जाने के पश्चात सैकड़ों रियासतों में बिखरे भारतवर्ष को एकरूपता प्रदान की गई है, उसी प्रकार भरतजी के जमाने मे एकरूपता प्रदान की गई थी। इधर भरतजी समग्र भारत मे एकता स्थापित करना आवश्यक समझते थे और उधर उनके भाई अपनी स्वाधीनता की रक्षा करना आवश्यक

समझते थे। इस प्रकार एक उलझन पैदा हो गई। उस समय भरतजी की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। उनके भाई उस प्रचण्ड शक्ति का मुकाबिला नहीं कर सकते थे। फिर भी वे वीर थे और शक्ति के सामने घुटने टेक देने के लिए तैयार नहीं थे। अतएव उन्होंने स्वाधीन रहने का ही निश्चय कर लिया।

परन्तु उन्हें भगवान् ऋषभदेवजी का स्मरण आया। सोचा—पिताजी अभी जीवित हैं और उन्होंने ही हम लोगों को तथा भरतजी को राज्य दिया है। ऐसी स्थिति मे क्या यह अच्छा न होगा कि इस विषय मे उनकी सम्मति ली जाय? पिताजी की आज्ञा हमें भी स्वीकार्य होगी और जेष्ठ भ्राताजी को भी स्वीकार्य होगी। मतभेद शांति के साथ दूर हो जायगा और किसी प्रकार का अनर्थ कर संघर्ष भी खड़ा नहीं होगा। जो झगड़ा शांति और प्रेम से मिट सकता हो, उसके लिए हिंसा का आश्रय क्यों लिया जाय?

इस प्रकार विचार कर ऋषभदेवजी के ९८ पुत्र उनके पास पहुँचे। भगवान् को नमस्कार करके उनके समक्ष हाथ जोड़ कर बैठ गये। फिर कहा—पिताजी! साधु बनने से पहले आपने निष्पक्ष भाव से राज्य का बंटवारा कर दिया था सब भाइयों को अलग अलग राज्य दे दिया था। अब तक हम लोग उस बटवारे के अनुसार शासन कर रहे हैं। मगर अब बड़े भाई साहब के चित्त में लोभ उत्पन्न हो गया है। वे अपने प्राप्त राज्य से संतुष्ट नहीं हैं। उन्होंने भारत के अन्यान्य राजाओ को अपने अधीन कर ही लिया है, अब हम लोगों की स्वाधीनता का भी अपहरण करना चाहते हैं। वे हमारा राज्य छीन लेना चाहते हैं। इसीलिए हम

लोग आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं। भरतजी और किसी का कहना मानें या न मानें, आपका कहना अवश्य मानेंगे। हम भी आपके आज्ञाकारी हैं। आप जो आज्ञा प्रदान करेंगे उसे हम स्वीकार करेंगे।

अपने पुत्रों की फरियाद सुन कर ऋषभदेवजी ने कहा—उस समय मेरे हाथ मे जो राज्य था, वह तुम लोगों को दे दिया था। अब मेरे हाथ में मुक्ति का महान् साम्राज्य है। चाहो तो वह मैं दे सकता हूँ।

भव्यो ! अभी तक तुमने बाह्य दृष्टि से विचार किया है, अब जरा आन्तरिक दृष्टि से विचार करो। सोचो, समझो। यही सोचने का समुचित समय है। बोधि प्राप्त करो। अपनी दृष्टि को निर्मल और विशाल बनाओ। विचार करो कि तुम कौन हो ? क्या हो ? यह हाड़-मांस आदि से निर्मित शरीर तुम नहीं हो। जब शरीर नहीं रहेगा तब भी तुम्हारा अस्तित्व रहेगा। अतएव इस जीवन की क्षुद्र मर्यादाओं तक ही अपनी विचार शक्ति को सीमित मत करो, अपने शाश्वत जीवन की ओर भी दृष्टि डालो। अनन्त भविष्य को मंगलमय बनाने के महामार्ग की गवेषणा करना मानव जीवन की सार्थकता है। भविष्य के लिए वर्त्तमान की उपेक्षा नहीं की जा सकती, मगर वर्त्तमान के लिए भविष्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि वर्त्तमान क्षणिक है और भविष्य शाश्वत है। शाश्वत कल्याण के लिए शाश्वत सत्य को जो निगूढ है, निगूढतर है, खोजना चाहिए।

वह गूढ सत्य क्या है ? यह समझना सरल नहीं है। उसे समझने के लिए उग्र और चिरकालीन साधना की आवश्यकता होती है। पर उसको समझ लेने और प्राप्त कर लेने में ही आत्मा के पुरुषार्थ की चरम सार्थकता है।

जिस बुद्धि से परम सत्य को समझा जा सकता है, उस बुद्धि को—बोधि को प्राप्त करो। उसे प्राप्त करने का अगर कोई उपयुक्त अवसर है तो वह यही है। ऐसा या इससे उत्तम अवसर फिर मिलना कठिन है। अतएव विलम्ब नहीं करना चाहिए। समय चला जा रहा है, निरन्तर चला जा रहा है, एक भी क्षण ठहरे विना चला जा रहा है। दिन रात, घटा, घड़ी, पल, क्षण, कर-करके वर्ष के वर्ष बीत रहे हैं। ससार की प्रचड से प्रचंड शक्ति भी अगर एक क्षण को ठहराना चाहे तो वह ठहर नहीं सकता। इस प्रकार अबाध गति से काल व्यतीत हो रहा है।

काल ही व्यतीत हो रहा होता तो चिन्ता की कोई बात नहीं थी। परन्तु यहां तो काल के साथ ही साथ प्राणियों का जीवन भी बीता जा रहा है। बल्कि यों कहना चाहिए कि काल नहीं, हमारा जीवन ही बीता जा रहा है।

कालो न यातो वयमेव याताः।

अर्थात्—काल नहीं बीता, हम ही बीत गये हैं।

भद्र पुरुषों! सचमुच क्षण-क्षण के रूप मे समग्र जीवन अतीत के उदर में समा रहा है। देखो, कितनी आयु बचपन मे चली गई और कितनी युवावस्था में बीत गई? थोड़े दिनों के बाद शरीर को निर्बल बना देने वाला बुढ़ापा हमला कर देगा और

जीवन लीला समाप्त हो जायगी। फिर राज्य क्या काम आने वाला है? दुनिया भर का वैभव किस मतलब का रह जायगा? सब कुछ यहीं धरा रहेगा। कोई भी वस्तु आत्मा के साथ परलोक में नहीं जायगी। हां, इन सब वस्तुओं को इकट्ठा करने और इन पर ममता का भाव स्थापित करने से जो पाप उपार्जन किया होगा वह अवश्य साथ जायगा।

मनुष्य आंख रहते अंधा क्यों बन रहा है? वह अपने नेत्रों से देख रहा है कि न जाने कितने लोग युवावस्था में ही काल के गाल में चले जाते हैं, कितने ही बाल्यावस्था को भी पूर्ण नहीं कर पाते और कितने ही गर्भ में ही परलोक के लिए प्रयाण कर जाते हैं। उन्हें बाहर की हवा भी नहीं लगने पाती। वे यह भी नहीं जान पाते कि कौन मेरा पिता था, कौन मेरी माता थी और कौन मेरे भाई-बन्द थे! जैसे बाज पक्षी, तीतर, बटेर या कबूतर पर झपट्टा मारता है और तत्काल गला दबाकर ले जाता है, उसी प्रकार मौत मनुष्य पर झपटती है और सारा खेल खत्म कर डालती है। इसीलिए तो कहा है:—

> सूने और गहन वन में जब सिंह हिरन को पाता,
> तब उसकी रक्षा करने को कौन सामने आता।
> इसी भांति यमराज झपटता जब प्राणी के ऊपर,
> है ऐसा बलवान् कौन जो उसे बचावे भू पर?

वास्तव में कोई किसी से कितना ही हार्दिक प्रेम क्यों न करता हो, मृत्यु आने पर बचा नहीं सकता। और कोई भी शरीरधारी लाख उपाय करने पर मौत के चगुल में फँसे बिना रह

नहीं सकता। जीवन का अंतिम परिणाम मृत्यु है। मृत्यु से बचना असंभव है:—

अम्बर में पाताल लोक में या समुद्र गहरे में,
इन्द्रभवन में शैल गुफा में, सेना के पहरे में।
वज्रविनिर्मित गढ़ में या अन्यत्र कहीं छिप जाना,
पर भाई ! यम के फंदे में अन्त पड़ेगा आना ॥

भगवान् ऋषभदेवजी अपने पुत्रों से कहते हैं—

वेटा सुन लीजे, कहे ऋषभजी बारम्बार।

पुत्रो ! सुनो। मेरी बात पर ध्यान दो। मौत मनुष्यों को किसी भी समय पकड़ कर ले जाती है। देखो:—

बाल वृद्ध सब जीव पै रही मौत झपट्टा मार ॥

मौत किसी को नहीं छोड़ती। बालक हो या वृद्ध हो, सब पर समान भाव से झपट्टा मारती है। जब मौत का आक्रमण होता है तो मनुष्य विवश-लाचार हो जाता है। चलते-चलते दम तोड़ देता है, चश्मा किधर ही पड़ता है, गुलाबी दुपट्टा किधर से जा गिरता है और सारा वैभव भूमि पर लोटने लगता है।

भाइयो ! भगवान ऋषभदेवजी ने अपने पुत्रों को जो कुछ उपदेश दिया है, वह आपके लिए भी है या सिर्फ उन पुत्रों के लिए ही था ? अगर वह उपदेश सिर्फ उन्हीं के लिए होता तो शास्त्रों में उसका उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी ?

भगवान् के ६८ पुत्र तो उपदेश सुनकर उसी समय साधु बन गये थे। उनकी अन्तरात्मा ऐसी निर्मल थी कि तत्काल उस पर उपदेश का असर पड़ा। फिर भी वह उपदेश शास्त्रों में लिखा गया है, इसका उद्देश्य क्या है?, यही न कि युग-युगान्तर में भव्य जीव उससे बोध पाते रहें और सावधान होकर अपनी आत्मा का कल्याण करते रहें। अगर इस सचाई पर आपका विश्वास है तो भगवान के उपदेश को सावधान होकर सुनो। उस पर विचार करो, गंभीरतापूर्वक उसकी सचाई का अनुभव करो और भगवान के द्वारा प्रदर्शित किये हुए पथ पर चलने की तैयारी करो।

संसारी जीव अनादिकाल से अज्ञान में फँसा है और सद्गुरु की संगति मिलने पर, वीतराग प्रभु की वाणी सुनने का सुयोग पाकर भी मोहमय दशा से ऊपर नहीं उठता है। कोई कहता है—महाराज मेरा, बच्चा नन्हा-सा है! कोई कहती है—महाराज, मेरे धनी नौकरी पर जाते हैं और रसोई जल्दी करनी पड़ती है। कोई कहता है क्या करूँ महाराज, अचानक झगड़ा खड़ा हो गया तो वकील के पास चला गया था। कोई कहता है—कमठा छेड़ रक्खा है न! इसीसे आजकल फुर्सत नहीं मिलती। कोई कहता है—स्त्री के लिए गोखरू गढ़वाने चला गया इसी कारण नहीं आ सका। इस प्रकार मोह-माया में फँस कर धर्म का नाम भी नहीं लेता है बेईमान! दुनियादारी के कामों में चौबीसों घंटे लगाता है और धर्मक्रिया के लिए एक घड़ी भी फुर्सत नहीं पाता। इसी कारण तो जीव चार गति, चौबीस दंडक और चौरासी लाख जीवयोनियों में भटकता फिरता है! सद्गति प्राप्त करना कठिन हो रहा है।

भगवान् अपने पुत्रों से कहते हैं—सुनो ! यह मोह-ममता में फँसा हुआ जीव सभी प्रकार के अनर्थ कर डालता है। हिंसा करने से मुँह नहीं मोड़ता। पृथ्वीकाय, अपूकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के अतिरिक्त त्रसकाय की भी हिंसा करता है, असत्य आदि पापों का सेवन करता है और पाप कर्मों का बंध करके दुर्गति मे जाता है। जीव अपने किये कर्मों के फल स्वरूप ही नाना प्रकार की दुःखमय योनियों मे भटकता है और भटकता है। यों किसी राजा, यहाँ तक कि इन्द्र की भी शक्ति नहीं कि वह किसी को दुर्गति मे भेज सके। न कोई किसी को सुगति दे सकता है और न दुर्गति दे सकता है। अपने-अपने कर्म ही जीवों को सुगति-दुर्गति के पात्र बनाते है। समझदार आदमी विवेकवान् होता है तो मजे में घर अथवा दुकान जाता है किन्तु जो शराब पी लेता है और नशे में होता है, वह बीच में कांटों में ही धड़ाम से गिर पड़ता है, इसी प्रकार कषाय और प्रमाद में पड़कर जीव दुर्गति में जा पड़ता है। वस्तुः कर्म से ही सुख- दु ख की प्राप्ति होती है। अतएव मनुष्य का प्रथम और प्रधान कर्त्तव्य एवं उद्देश्य यही होना चाहिये कि वह कर्मों को नष्ट करने का प्रयत्न करे।

भगवान् का कथन है कि किसी को मारना बुरा है, अगर मारना ही है तो कर्मों को ही मारो। कर्म ही असल में आत्मा के शत्रु हैं। संसारी जीव जिस किसी मनुष्य को अपना वैरी मान लेते हैं और उससे वैर का बदला भंजाने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह उनका भ्रम है। दूसरे लोग तो कर्मों के हथियार मात्र है। असल में तो कर्म ही जीव की दुर्गति करते है। विवेकवान् व्यक्ति असलियत को पहचानने का प्रयत्न करता है। रोग के वास्तविक

मूल को समझे बिना उचित चिकित्सा नहीं हो सकती। कल्पना करो—किसी आदमी को ज्वर चढ़ आया। ज्वर के प्रभाव से उसका समस्त शरीर गर्म हो गया। बहिर्दृष्टि वाला अज्ञान जीव इस स्थिति में क्या करेगा? और बुद्धिमान मनुष्य को क्या करना चाहिए? अगर ऊपरी गर्मी को दूर करने के लिए रोगी को ठंडे जल से नहला दिया जाय तो थोड़ी देर के लिए ऐसा मालूम होगा कि बुखार दूर हो गया है, मगर ऐसा करने से विकार वास्तव में दूर नहीं होगा, बल्कि और अधिक बढ़ेगा। बुद्धिमान मनुष्य ज्वर के कारण की खोज करेगा और ऊपरी गर्मी को नहीं, वरन् उस गर्मी के कारण को दूर करने का प्रयत्न करेगा। ज्वर का कारण हट जाने पर ज्वर भी हट जाता है।

यही बात अपने ऊपर घटा कर देख लेनी चाहिए। ज्ञानी पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह दुःख आ पड़ने पर दुःख बाह्य निमित्त के बदले उसके मूल कारण को खोजे और उसी की चिकित्सा करे। मूल कारण के हट जाने पर दुःख भी आप ही आप दूर हो जायगा। यह बतलाया ही जा चुका है कि दुःख का मूल कारण कर्म है। आचार्य अमितगतिजी कहते हैं—

> स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
>   फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
> परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
>   स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।

अर्थात्—इस जीव ने पहले जैसे कर्मों का उपार्जन किया है, उन्हीं के अनुसार शुभ या अशुभ फल भोगता है। अगर

दूसरों का दिया सुख-दुःख भोगने लगे तो अपने किये कर्म निष्फल हो जाएंगे।

इस प्रकार का विचार करने से अन्तःकरण शान्त हो जाता है और दृष्टि निर्मल हो जाती है। कषाय भाव की मन्दता होती है और नवीन कर्मों के बंध का अवसर कम हो जाता है। सुख दुःख भोगते समय समभाव रहता है। जब मनुष्य को विश्वास होता है कि मैं अपने दुःख का कारण स्वयं ही हूँ, अपने लिए मैंने ही यह दुःख उपार्जन किया है, दूसरा कोई मुझे दुखी नहीं बना सकता, तो वह राग-द्वेष से बच जाता है और अपने भविष्य को सुधार लेता है। भगवान कहते हैं—तुम अपनी किसी भी अवस्था के लिए दूसरों को जिम्मेवार मत ठहराओ तुम जिस अवस्था में हो उसके लिए स्वयं ही उत्तरदायी हो। अतएव मूल कारण की ओर देखो। कर्मों को नष्ट करने का प्रयत्न करो।

और देखो, यह जीव ऊँची जाति ऊँचे कुल, सबल शरीर सुन्दर रूप और उत्कृष्ट ज्ञान-ध्यान, तप आदि का जब अभिमान करता है और दूसरों को नीचा समझ कर उनसे घृणा करता है, तब नीची गति में गिरता है। मेरी जाति ऊँची है और तू नीची जाति का है, मैं ऊंचे कुल का हूँ और तुम नीचे कुल के हो, इस प्रकार अभिमान करने से आत्मा को चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। जो साधु, साध्वी श्रावक या श्राविका तत्त्व का स्वरूप समझ गया है, ज्ञान ध्यान भी करता है, तपस्या भी करता है, फिर भी अगर वह कहता है कि हम अच्छे हैं और दूसरे बुरे हैं, हम धर्मात्मा हैं और दूसरे अधर्मी हैं, हम भक्त हैं

और दूसरे दुष्ट हैं, जो अपने मुख से अपनी महिमा करता है और दूसरों की निन्दा करता है, वह अपनी करनी पर पोता फेरता है। वह अपनी आत्मा को गिराता है। उसका ज्ञान, ध्यान, तप और त्याग आत्मशुद्धि का कारण न होकर कषाय का पोषक बन जाता है।

भाइयो! किसी चीज का अभिमान मत करो। आज अगर आप लखपति हो तो क्या ठिकाना है कि कल-परसों या जीवन पर्यन्त लखपति ही रहोगे? बड़े-बड़े बादशाह, राजा महाराजा, सेठ-साहूकार परिस्थिति के भवर में पड़ कर कुछ से कुछ बन जाते हैं। अफगानिस्तान के शाह अमानुल्लाह को देखो। किसी समय वह बादशाह थे और आज मकानों की दलाली करके अपना निर्वाह करते हैं। यूरोप के अनेक बादशाहों को देश-निकाला दे दिया गया और उनकी बेगमें आज नौकरी की खोज में भटकती फिरती हैं। भारतवर्ष मे सैकड़ों राजा थे। आज उनकी क्या स्थिति है? भले ही उनका राजा का खिताब अभी बच रहा है, मगर वे बिना राज्य के राजा हैं। कलतक उनकी जो मर्यादा थी, वह आज नहीं रह गई है और आज जो मर्यादा है वह कल नहीं रहने वाली है। जब यह हालत प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है तो आप किस खेत की मूली हैं? किस बूते पर आप अभिमान कर सकते हैं?

आप सोचते हैं--हम धनी हैं और हमारे सामने दूसरे तुच्छ हैं। मगर मैं आपको सूचना देता हूँ कि जल्दी से जल्दी आप इस अभिमान के भूत को भगा दीजिए। संसार में खास तौर से आर्थिक क्षेत्र में घोर क्रान्ति आ रही है। दीर्घदृष्टि से इसकी

ओर देखिए। अगर आप उसे नहीं देखेंगे और अभिमान का त्याग नहीं करेंगे तो वह और जल्दी आएगी। इसके सिवाय धन के नाश के तो सैकड़ों कारण मौजूद हैं। चोर चुरा ले जाते हैं, डाकू लूट ले जाते हैं, बाढ़ बहा ले जाती है, आग नष्ट कर देती है, भाई-बन्द छीन लेते हैं या दुर्व्यसन में पड़कर उड़ा देते हैं। ऐसी नाशशील वस्तु का अभिमान कैसा ? सच तो यह है कि अभिमान करने की बात ही दूर, धन या अन्य सांसारिक पदार्थ तुम्हारे हैं ही नहीं। तुम चेतन हो, धन आदि वस्तुएं जड़ हैं। भला जड़ पदार्थ चेतन के किस प्रकार हो सकते हैं। आचार्य ने कहा है—

> यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्धम्,
> तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रैः ? ॥

—आचार्य अमितगति

अर्थात् जिस चेतन की अपने शरीर के साथ भी एकता नहीं है, जो शरीर में स्थिति होने पर भी शरीर से सर्वथा भिन्न है, उसकी पुत्र, पत्नी और कुटुम्बी जनों के साथ एकता किस प्रकार हो सकती है ? और जब कुटुम्बी जनों के साथ एकता नहीं है तो धन, मकान आदि पुद्गलों के साथ एकता तो हो ही कैसे सकती है ? कहा भी है.—

> हो जल में उत्पन्न जलज ज्यों जल से ही न्यारा है,
> त्यों शरीर से भिन्न चेतना को भी निर्धारा है।
> तो दुनियां की अन्य वस्तुएँ कैसे होगी तेरी ?
> समझ निराले आत्मरूप को मत कह मेरी-मेरी।

मैं हूँ सब से भिन्न अन्य अस्पृष्ट निराला,
आत्मीय सुख-सागर में नित रमने वाला।
सब संयोगज भाव दे रहे मुझको धोखा,
हाय न जाना मैं ने अपना रूप अनोखा॥

भाइयो! इस पारमार्थिक सत्य की ओर अपनी विचार-धारा को ले जाओ। वहिरात्मा बन कर कब तक भ्रम-अंधकार में भटकते और ठोकरें खाते रहोगे? सत्य को समझो, उसका अनुभव करो और उसी में अपनी बुद्धि को स्थिर करो। ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा बलवान् बनेगी।

अपने जीवन की गति को जरा मोड़ दो। अपनी दृष्टि को असत्य की ओर से हटा कर सत्य की ओर ले जाओ। काम-भोगों में सुख मान रहे हो और वीतराग के कहे धर्म की आराधना नहीं करते हो। सोचो कि ऐसा करने से तुम्हारी क्या गति होगी? तुममें से कई कहते हैं कि हम शास्त्रों को, धर्म को और साधु महात्माओं को नहीं मानते। ऐसे लोग सत्य से विमुख हैं। उनकी मनोवृत्ति और वाणी सुनकर ज्ञानी जनों को क्रोध नहीं आता, दया आती है। वे सोचते हैं कि अरे! इन वेचारे अज्ञानियों की क्या स्थिति होगी? ऐसे लोग सम्यक्त्व से हीन हैं और मनुष्य-जन्म पाकर के भी अपना हित नहीं कर रहे हैं।

ज्ञानी जन ऐसे लोगों को समझाते हैं—तुम धर्म-कर्म को स्वीकार नहीं करते हो, इससे तुम्हारी ही हानि है। अगर सत्य को समझना चाहो तो उसके प्रमाण तो पद-पद पर मिल सकते हैं। वारीक बातों को नहीं समझ सकते तो जाने दो, मोटी-मोटी

बातों को ही समझो। शुभ और अशुभ कर्मों के फल तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं! एक आदमी मालदार है और तकिया का सहारा लेकर गादी पर बैठा रहता है। वह नहीं जाना चाहता तो भी लोग जबर्दस्ती उठाकर उसे ले जाते हैं और सभापति बनाते हैं और मानपत्र अर्पित करते हैं दूसरा आदमी वह है जो दाने-दाने को मोहताज रहता है और सोचा करता है कि रात निकल गई तो सुबह कहां से लाकर पेट भरूँगा? यही तो अच्छे और बुरे कर्मों का फल है। इस फल को देखकर कर्म-फल की विचित्रता का अनुमान लगा लेना चाहिए। इसी से ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि केवली भगवान् के वचनों पर विश्वास करो और उन्हें सत्य समझो।

हे ज्ञानशून्य मनुष्य! तू कहता है कि नरक और स्वर्ग सब यहीं, इसी लोक में हैं। यहाँ जो आनन्द भोग रहे हैं वे स्वर्ग में हैं और जो कष्ट भोग रहे हैं वे नरक में हैं। इसके सिवाय स्वर्ग और नरक कहीं नहीं है, क्योंकि वे हमें दिखाई नहीं देते। तू भूत और भविष्य की बातें नहीं मानता और सिर्फ वर्त्तमान को ही सत्य मानता है। परन्तु यह तेरी बड़ी संकीर्ण बुद्धि है। तू क्या अपने को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी मानना चाहता है? जो तेरी बुद्धि में आ जाय और तुझे दिखाई दे जाय, वही सत्य है और जो चीज तेरे ज्ञान से परे हो उसका अस्तित्व नहीं है! तेरी यह मान्यता भूल भरी है। तू ऐसा मानेगा तो तेरे पूर्वजों का ही अभाव हो जायगा, क्योंकि वे भी तुझे दिखाई नहीं देते। फिर क्या तू या तेरे पिता यों ही आकाश से टपक पड़े? बता, वे कहाँ से आये थे? जिस प्रकार तू अपने पिता से जनमा है, उसी प्रकार तेरे पिता भी अपने पिता से ही जनमे होंगे और वे भी अपने पिता से जनमे होंगे। तू उन्हें

नहीं देख सकता तो क्या उनका अपने समय में अस्तित्व मिट जायगा ? अगर तू अनुमान प्रमाण से उनकी सत्ता स्वीकार करता है तो अनुमान प्रमाण से ही कर्मों की, स्वर्ग-नरक आदि की भी सत्ता क्यों नहीं मान लेता !

हे मनुष्य ! माना कि जीवधारियों में तू सब से बड़ा, ऊँचा, समझदार और विवेकशील प्राणी है फिर भी तेरी बुद्धि की एक मर्यादा है। जगत् बहुत विशाल है और तेरा ज्ञान बहुत क्षुद्र है। दूर की बात जाने दे, तुझे अपने मस्तक के बालों की भी संख्या नहीं मालूम है। अपने शरीर के भीतर का भी हाल तू नहीं जानता। फिर क्यों वृथा दावा करता है कि स्वर्ग-नरक नहीं हैं। केवलज्ञानियों ने अपने ज्ञान में देखकर जगत् का जो स्वरूप बतलाया है, वह सत्य है, तथ्य है श्रद्धा करने के योग्य है। अन्धा कहता है, जगत् शून्य है पर आंखों वाले तो इसकी सत्ता को देख रहे हैं ! इसी प्रकार अज्ञानी का कथन है कि स्वर्ग-नरक नहीं है पर सर्वज्ञ तो उन्हें भी देख रहे हैं और कह गये हैं। दोनो में से किसकी बात मानने योग्य है ? इसलिए हे भाई ! सर्वज्ञ के कथन पर विश्वास करके अपनी आत्मा का कल्याण कर। अज्ञान के चक्कर में पड़कर अनादि काल से भवभ्रमण कर रहा है ! अब उसका अन्त करने का सुयोग मिला है। इसे क्यों गँवाता है ? यह सुअवसर हाथ से चला जायगा तो कौन जाने कब तेरा उद्धार होगा ? शीघ्रता कर। जीवन का ठिकाना नहीं। अभी है, अभी नहीं भी रहेगा।

बीते हुए काल में अनन्त तीर्थङ्कर हो चुके हैं—अनन्त चौबीसियाँ हो गई है और भविष्य में भी होएँगी। उन सब

तीर्थंकरों की श्रद्धा, प्ररूपणा या ज्ञान में कुछ भी अन्तर नहीं होता। सभी सर्वज्ञों का मन्तव्य एक-सा होता है। राग और द्वेष से रहित सर्वज्ञों के उपदेश से भिन्नता होने का कोई कारण ही नहीं है। जहां ज्ञान की न्यूनता होती है, वहीं प्ररूपणा में विपरीतता आती है। कहावत है—सौ सयाने एकमता, सौ मूरख सो मता। अर्थात् सभी ज्ञानी जन एक सा विचार करते हैं किन्तु अज्ञानी लोग अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार अलग-अलग प्ररूपणा करते हैं।

एक बूढ़ा आदमी बीमार हो गया। उसके चार-पांच लड़के थे और वे सब मूर्ख थे। एक लड़का बोला—दूसरी दवा मत दो, किन्तु डाक्टर की दवाई कराओ। दूसरे ने कहा—तू नहीं समझता। डाक्टर की दवा अच्छी नहीं होती। अपन तो वैद्य की दवा कराएँ। तीसरा बोला—वैद्य को बुलाओगे तो वह सौ अड़ंगे खड़े करेगा। चूर्ण की फाकी दे दो, पिताजी अच्छे हो जाएँगे और खर्च भी नहीं करना पड़ेगा। इस प्रकार सब अपनी अलग-अलग राय प्रकट करने लगे। एक ने कहा—तुम लोग कुछ भी नहीं समझते, तो दूसरा बोला—तुम सब मूर्ख हो। बात बढ़ गई और आपस में जूता-पैजार की नौबत आ गई।

चौथा लड़का तीनों की यह लड़ाई देखकर बोला—इस लड़ाई का मूल बूढ़ा है, उसे मार दिया जाय तो सारा झगड़ा ही खत्म हो जाय। सचमुच वह मूर्ख बंदूक लेकर पहुँचा और बूढ़े का कल्याण कर दिया।

इन लड़कों की मूर्खता पर आप हँसेंगे और चौथे लड़के की करतूत को घृणा की दृष्टि से देखेंगे। मगर क्या आपको

नहीं पता है कि आज के युग के बड़े-बड़े बुद्धिमान् कहलाने वाले लोग भी चौथे लड़के के समान ही विचार और कार्य कर रहे हैं।

धर्म के विषय में जो नाना प्रकार के मन्तव्य संसार मे फैले हुए हैं, और धर्म के नाम पर मूर्ख लोग आपस में जो लड़ाई-झगड़ा करते हैं, उसे देखकर कई लोग यह कहने लगे हैं कि धर्म के नाम पर होने वाले झगड़ों को मिटाने के लिए धर्म को ही समाप्त कर देना चाहिए। ऐसा सोचने वाले और कहने वाले लोग अपने बाप को मार डालने वाले मूर्ख पुत्र के समान ही हैं।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो झगड़े की जड़ बूढ़ा बाप नहीं, लड़कों की मूर्खता थी। बूढ़ा उन्हें लड़ा नहीं रहा था, किन्तु वे अपने अज्ञान के कारण ही लड़ रहे थे। उनकी लड़ाई मे बेचारे बूढ़े बाप का क्या दोष था? अगर बाप बीमार न होता तो वे किसी दूसरे निमित्त को लेकर लड़ पड़ते।

ठीक यही बात धर्म के विषय मे है। धर्म अनादि काल से है, अतएव वह वृद्ध है और जगत् का पिता है। पिता शब्द का अर्थ है—पालन करने वाला। धर्म संसार के प्राणियों की रक्षा करता है—पालन करता है, इसलिए वह पिता है। मानव-जाति का ही नहीं वरन् प्राणि मात्र का अस्तित्व धर्म के सहारे ही टिका हुआ है। अगर आज सभी लोग अपने-अपने धर्म का परित्याग कर दें तो जगत् की क्या हालत होगी, यह कल्पना ही बड़ी भयंकर है। माता अपने मातृत्वधर्म का पालन न करे तो जन्म होने से पहले ही शिशु का जीवन समाप्त हो जाय। राजा

या शासक अपने धर्म का पालन न करे तो दुनिया में अंधेर मच जाय, लूटपाट और हत्याओं का ऐसा दौर शुरु हो जाय कि जिंदगी रहना ही मुश्किल हो जाय। पत्नी अपने धर्म का पालन न करे, पति अपने धर्म को छोड़ देवे, स्वामी और सेवक भी अपने-अपने धर्म से विमुख हो जाएँ तो संसार किस स्थिति में जा पड़े?

अब जरा और आगे बढ़िए। वायु अपना धर्म-स्वभाव त्याग दे तो आपका जीवन कितनी देर कायम रहेगा? चन्द्रमा और सूर्य तथा पृथ्वी और पानी भी अगर अपना-अपना धर्म छोड़ दें तो जगत् में उसी समय प्रलय छा जाय। इस प्रकार जब हम विचार करते हैं तो साफ मालूम पड़ता है कि धर्म के अभाव में जगत् की स्थिति ही नहीं रह सकती। अतएव धर्म जगत् का पिता है।

इसी बात पर थोड़ा और तरह से भी विचार कर लीजिए शास्त्र में धर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा है —

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।

अर्थात्—अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मंगलकारी है।

धर्म का जब यह स्वरूप है तो धर्म का बहिष्कार करने का अर्थ है—अहिंसा का बहिष्कार करना, संयम का बहिष्कार करना और तपस्या का भी बहिष्कार करना। पहले अहिंसा के बहिष्कार पर ही विचार कर देखिए। अहिंसा का बहिष्कार करने का मतलब होगा—हिंसा की प्रतिष्ठा करना। तब क्या हिंसा के आधार पर सृष्टि चल सकेगी? एक दूसरे की हत्या

की ही फिराक में रहे तो संसार कब तक टिकेगा ? आप इस कारण जिंदा हैं कि दूसरों ने आपका घात नहीं कर दिया है। इस प्रकार अहिंसा की बदौलत ही आपकी जिंदगी है। हिंसा मृत्यु है और अहिंसा जीवन है। मृत्यु के बल पर जो जीवित रहना चाहता है, उसकी बुद्धि की बलिहारी है।

इसी प्रकार संयम का अर्थ है—अपने ऊपर काबू रखना, अपनी इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना और अपने मन को भी अपनी अधीनता में रखना संयम कहलाता है। अगर आप धर्म का बहिष्कार करते हैं तो संयम का बहिष्कार करते हैं और संयम का बहिष्कार करते हैं तो अपने आपको बेकाबू बनाना चाहते हैं। जब आपने अपने आपको बेकाबू बनाना ही आवश्यक समझ लिया तो समझना पडेगा कि आप जिंदगी को ही त्याग देना चाहते हैं। मनुष्य पागल कब होता है ? जब उसका दिमाग बेकाबू हो जाता है तब वह पागल कहलाता है और उसका जीवन बेकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य अपने दिल, दिमाग और तमाम इन्द्रियों को अगर बेकाबू बना लेगा तो उसकी जिंदगी का क्या अर्थ रहेगा ? कल्पना कीजिए, जिस दुनिया में क्या मनुष्य क्या पशु-पक्षी और क्या अन्य जीव, सब पागल ही पागल होकर रहते हों, उस दुनिया में किस प्रकार शान्ति और सुख की झलक मात्र प्राप्त की जा सकती है ?

स्वेच्छापूर्वक, पारमार्थिक दृष्टि से कष्टों को सहन कर लेना तप है। तप का बहिष्कार करने का मतलब यह होगा कि जब कोई कष्ट आवे तो उसे स्वेच्छापूर्वक सहन न किया जाय। सहन न करने मात्र से कष्टों का आना तो रुक नहीं जायगा, तप को

त्याग देने से सहन करने की शक्ति अवश्य नष्ट हो जायगी। ऐसी स्थिति में जीवन कितना क्लेशमय और दीनतामय हो जायगा, यह कल्पना ही बडी भयावह है!

कहने का आशय यह है कि धर्म केवल परलोक को ही नहीं सुधारता, वह वर्तमान जीवन को भी सुखमय, शांतिमय और रसमय बनाता है। जैन-शास्त्रों में धर्म की जो सीधी-सादी व्याख्या दी गई है, विचार करने पर मालूम होता है कि वह जीवन के लिए कितना आवश्यक है।

धर्म को निमित्त बना कर लोग आपस में जो झगड़ा करते हैं, वह झगड़ा वैसा ही है जैसे बूढ़े बाप को निमित्त बना कर उसके मूर्ख लड़के आपस मे झगड़ते हैं। धर्म को खत्म कर देना भी वैसा ही है जैसे अपने बाप को गोली मार देना। वस्तुतः धर्म क्लेश करना नहीं सिखलाता लड़ाई-झगड़ा करने की शिक्षा नहीं देता। वह शान्ति और प्रेम का अक्षय झरना है और जगत् को जीवन देने वाला है। ऐसे महत्त्वपूर्ण धर्म के विषय मे अगर कोई प्रतिकूल अभिप्राय रखता है तो वह अज्ञान है और घोर अज्ञान है!

भाइयो!-यह विचारधारा भ्रमपूर्ण है कि धर्म की वजह से लडाई होती है, अत· धर्म को ही छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार की विचारधारा से तो गांधीजी मारे गये और यदि यह बढ़ती गई तो हत्याओं का दौरादौरा भयकर वेग के साथ शुरु हो जायगा। उन लडको में से एक ने बाप को मार डालने का निश्चय किया। फिर भाइयों-भाइयों में आपस में जायदाद के

बँटवारे को लेकर झगड़ा होगा तो वह एक दूसरे को मार डालेंगे! अरे राग-द्वेष तो खुद करते हो और बुराई धर्म की करते हो! ऐसा करना बिगड़ी खोपड़ी वालों का काम है।

ज्ञानियों के कथन में फर्क नहीं होता, जिनकी बातों में फर्क न पड़े वही सच्चे ज्ञानी हैं। वही बुद्धि का सागर है। उनके बतलाये मार्ग पर चलने से ही सच्चा हित हो सकता है।

भगवान् ऋषभदेवजी ने अपने पुत्रों को उपदेश देते हुए कहा--जो आत्मा अपने स्वार्थ के लिए एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के किसी जीव की हिंसा नहीं करता और जो अपनी इन्द्रियों को विषय वासना की ओर नहीं घूमने देता, वह कल्याण का पात्र बनता है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति रखते हुए अनेक जीव भूतकाल में मोक्ष गये हैं, वर्त्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जाएँगे।

हे पुत्रो! तुम समझो। अगर सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं करोगे और मानव-तन पाकर आत्महित के लिए प्रवृत्ति नहीं करोगे तो संसार में भटकते हुए नाना प्रकार के दुःख उठाने पड़ेंगे। अज्ञानी मनुष्य पुनः पुनः पापों का उपार्जन करके जन्म-मरण के दुःख भोगता है। पापों से बचने का सब से उत्तम उपाय अपनी इन्द्रियों पर काबू करना है। जैसे कछुआ अपने अंगों और उपांगों को संकुचित कर लेता है तो उसके ऊपर शत्रु का प्रहार सफल नहीं होता, इसी प्रकार जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेता है, उस पर पापों का जोर नहीं चलता। जो कछुवे की भाँति इन्द्रियों को गोपन करके रखता है, अन्तः करण में

बुरे विचार नहीं आने देता और दूसरों का दिल दुखाने वाली भाषा का भी प्रयोग नहीं करता, वह अपनी आत्मा को मोक्ष में ले जायगा।

हे आर्य! ज्ञान उत्तम और हितकर है, मगर उसकी सार्थकता इस बात मे है कि किसी जीव की हिंसा न की जाय। जो ज्ञान प्राप्त करके भी जीव हिंसा का त्याग नहीं करते, उनका ज्ञान निरर्थक है, उसकी कोई सफलता नहीं है। कोई मनुष्य औषध का ज्ञाता है, मगर रोग होने पर औषध का सेवन नहीं करता तो उसका ज्ञान किस काम का? तुम स्वस्थ रहने के नियमों को भलीभांति जानते हो, पर उनके अनुसार व्यवहार नहीं करते तो उन नियमों को जान लेने से क्या लाभ हुआ? स्वास्थ्य सबंधी नियमों का ज्ञान ही किसी को स्वस्थ नहीं रख सकता। इसी प्रकार कोरे ज्ञान से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। अतएव ज्ञान प्राप्त करके उसे आचरण मे लाना चाहिए। आचरण की पहली भूमिका अहिंसा है। किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना ही ज्ञान का सार है। कहा भी है:—

बहुत पढ़े क्या काम के, बोले नहीं विचार।
हने पराई आत्मा, चले जीभ-तलवार॥

कइयों की जबान ऐसी चलती है कि वे कई पशुओं की, यहाँ तक कि मनुष्यों की भी गर्दन कटवा देते हैं। जो झूठा बोलते हैं वे तो लक्कड़ कसाई कहलाते है और जो हिंसाकारी वचन बोलते हैं, वे जीभ-कसाई कहे जाने चाहिए और जो हिंसा को उत्तेजित करने वाले लेख लिखते है वे क्या कलम-कसाई नहीं है?

यह सब ज्ञान की न्यूनता का ही फल है। किसी को ठेस न पहुं-चने देने में ही ज्ञान की सार्थकता है।

भाइयो! असल में उसका ही मनुष्यभव सार्थक है जो सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके हिंसा से, मोह से और पापों से अपनी आत्मा की रक्षा कर सके। वही बुद्धिमान् है, वही पढ़ा लिखा है और वही वास्तव में पंडित है जो सदैव पापों से बचते रहने का प्रयत्न करता है। जो पढ़ लिख कर भी पापों में लिप्त रहता है, वह वास्तव में पंडित नहीं है।

प्रभु से प्रश्न किया गया–भगवन्! जब तीर्थंकर नहीं होंगे तो संसार को सच्चा मार्ग कौन बतलाएगा? किसकी वाणी श्रवण करके भव्य जीव आत्म कल्याण के पथ पर अग्रसर होंगे? तब भगवान् फरमाते हैं—हे आर्य! जो अपने मन, वचन, काय को वश में रखने वाले हैं, कभी भी जो अपनी आत्मा को बुराई की ओर नहीं ले जाते हैं, जो मन से किसी का अहित नहीं करते वचन से बुरे शब्द नहीं निकालते और शरीर को भोग-विलास से पृथक् रखते हैं, जो इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं, जिन्होंने हिंसा, झूठ, चोरी, स्त्री–संयोग और ममता का सर्वथा त्याग कर दिया है, जो रात्रि भोजन के त्यागी हैं, कल के भोजन-पान के लिए आज कोई चिन्ता या संग्रह नहीं करते, जो स्व-पर कल्याण में ही निरन्तर निरत रहते हैं, आत्मा रूपी शान्त और स्वच्छ सरोवर में सदा अवगाहन करने वाले हैं, जिन्होंने ममता को मार कर समता की साधना कर ली है और जो संसार में रहते हुए भी, जल में कमल की तरह, संसार से अलिप्त रहते हैं, जो स्वाध्याय ध्यान और आत्मचिन्तन में ही अपना समय व्यतीत करते हैं, ऐसे सर्वज्ञ के मार्ग का अनुसरण करने वाले साधक

महात्मा दुनियां को वीतराग का सच्चा मार्ग दिखलाएँगे। तीर्थंकर के मौजूद न रहने पर भी उनके द्वारा प्रदर्शित न्याय-मार्ग मौजूद रहेगा। उस न्याय-मार्ग को ऐसे महामहिम महात्मा भव्य जीवों के सन्मुख उपस्थित करेंगे और भव्य जीव अपना आत्म कल्याण कर सकेंगे।

जो पुरुष अपने उपदेश के अनुसार स्वयं भी व्यवहार करते हैं, उन्हीं के उपदेश का प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत जो कहता कुछ और है तथा करता कुछ और है, उसका दूसरों पर असर नहीं पड़ सकता।

एक आदमी बीमार हो गया। उसे बुखार आता था। वह डॉक्टर के पास गया। उसने डॉक्टर से कहा - मुझे बुखार की दवा दीजिए। डॉक्टर साहब ने कहा—यह गोलियां खा लेना, बुखार चला जायगा. वे नुस्खा लिखने लगे। लिखते समय उनका हाथ थर-थर कांप रहा था। यह हालत देख कर बीमार ने पूछा—डॉक्टर साहब ! आपका हाथ इतना क्यों कांप रहा है ? तब डॉक्टर साहब बोले—क्या करुं भाई ! मैं स्वय पन्द्रह दिन से ज्वर से पीड़ित हूँ ! बीमार ने कहा—तो यह गोलिया आपने नहीं खाई ? जब इनसे आपका बुखार नहीं गया तो मेरा कैसे चला जायगा ? रहने दीजिए अपनी गोलियों को ! मुझे इनकी आवश्यकता नहीं।

संसार में सर्वत्र यही हालत दृष्टिगोचर हो रही है। लोग लम्बे-लम्बे लेक्चर झाड़ते हैं कि लोभ नहीं करना चाहिए और अनीति से धन नहीं बटोरना चाहिए, परन्तु अवसर मिलते ही हजारों की रिश्वत खा कर डकार भी नहीं लेते। जो स्वयं अपनी

आत्मा को वश में नहीं करेगा, वह संसार को सच्चा उपदेश क्या देगा ? जो हिंसा करता है, झूठ बोलता है और ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता. वह अगर उपदेश देने बैठेगा भी तो किस पर उसका असर पड़ने वाला है ?

पूज्य उदयसागरजी महाराज बड़े महात्मा हो गए हैं। उनकी जन्मभूमि जोधपुर थी और खींवसरा वंश को उन्होंने उज्ज्वल किया था। विचरते-विचरते वे एक बार जावरा पधारे। उनका उपदेश सुनने के लिए जावरा के नवाब भी आये। पूज्यश्री ने व्याख्यान में फरमाया कि सच्चा साधु या फकीर वह है जो अठारह बातों (पापों) का त्याग करे। नवाब साहब ने वह अठारह बातें याद कर लीं।

कुछ समय बाद जावरा में कोई दूसरे महाराज पहुँचे। उनके भक्त भी नवाब साहब को उनके पास ले गए। नवाब साहब ने वहां जाकर देखा कि तबला और सारंगी बज रही है और मनोहर तानें उड़ रही हैं। तब उन्होंने कहा—यह साधु नहीं हैं, साधु तो उदयसागर महाराज थे।

मतलब यह है कि जो ज्ञान प्राप्त करके त्याग, तप और संयम के मार्ग पर अग्रसर होता है, वही सच्चा उपदेश दे सकता है। ऐसे त्यागनिष्ठ महात्माओं को गुरु बनाना चाहिए। गुरु बनाना आवश्यक है, परन्तु गुरु की परीक्षा कर लेना उससे भी पहले आवश्यक है। बिना गुरु के रहना अंधकार में भटकना है। कबीर ने कहा—

नुगरा नर कोई मत मिलोरे, पापी मिलो हजार।
इक नुगरा के ऊपरे रे, लख पापां को भार॥

कबीरजी कहते हैं कि हजार पापियों से वास्ता पड़ जाय तो कोई हर्ज नहीं मगर नुगरा (गुरु-हीन) से पाला पड़ना ठीक नहीं है। ऐसा कह कर उन्होंने यह सूचित कर दिया है कि हजारों पापियों की अपेक्षा भी नुगरा ज्यादा पतित होता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। बड़े से बड़ा पापी सद्गुरु की संगति करके सन्मार्ग पर आ सकता है, पापी आज भूला हुआ है सही, मगर उसने अपना एक मार्गदर्शक बना रक्खा है। कभी न कभी वह मार्गदर्शक गुरु उसे सच्चे मार्ग पर ले आएगा। मगर जिसने अपना कोई गुरु ही नहीं बनाया है, उसका सुधार कौन करेगा? कौन उसे मार्ग दिखलाएगा? इस प्रकार पापी के उद्धार की संभावना है, पर निगुरे के सुधार की तो कोई आशा ही नहीं की जा सकती।

संस्कृत भाषा में 'गुरु' शब्द का अर्थ अज्ञान का नाश करने-वाला ही किया जाता है। कहते हैं--

गुशब्दो ह्यन्धकारस्य, रुशब्दस्तद्विनाशनः।

अर्थात्—'गु' का अर्थ है अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ है-उस अंधकार का नाश करना। इस प्रकार जो अपने शिष्यों के अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करके उनके सामने सच्चे ज्ञान का प्रकाश फैलाता है, वह गुरु कहलाता है। और भी कहा है:—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन; तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अर्थात्—अज्ञान रूपी अन्धकार से अंधे बने हुए लोगों की आँखों में ज्ञान का अंजन आंज कर, जो उनकी आँखे खोल

देता है, अर्थात् जो ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाश प्रदान करता है, उस गुरु को नमस्कार हो।

किसी जमाने में हमारे देश में बिना गुरु के रहना बहुत बुरा समझा जाता था। आज भी हमारी भाषा में 'निगोड़ा' एक गाली समझी जाती है, जिसका अर्थ होता है—बिना गुरु का! अतएव गुरु अवश्य बनाना चाहिए, लेकिन वह गुरु ऐसा न हो जो चेले से भी ज्यादा पापी हो! कदाचित भूल-चूक से ऐसा गुरु बना लिया हो तो उसे बदल डालने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। मनुष्य का जीवन बार-बार नहीं मिलता है, अतः इस जीवन को सत्य के अनन्त आलोकमय पथ पर, निर्विघ्न रूप से अग्रसर करने के लिए किसी पथ प्रदर्शक सत्पुरुष की खोज अवश्य करो। उसकी भलीभांति परीक्षा करलो और जब समझो कि यह हमारा बेड़ा पार कर देंगे तो पूरी श्रद्धा के साथ अपना जीवन उनके सुपुर्द कर दो। उनके दिखलाए हुए मार्ग पर निश्शंक होकर चलो और अपना कल्याण करो।

भगवान् फरमाते हैं कि कितने ही अज्ञानी जन पहले की हुई हिंसा के फल से बचने के लिए फिर हिंसा का ही आचरण करते हैं। अर्थात् वे स्वर्ग को प्राप्त करने के लिए पशु बलि यज्ञ, होम आदि का आश्रय लेते हैं, किन्तु ऐसा करने वाले लोग गंभीर भूल करते हैं। जैसे खून से भिड़ा वस्त्र खून से ही साफ नहीं हो सकता, उस प्रकार हिंसा आदि पापों के आचरण के द्वारा बाँधे हुए कर्म हिंसा आदि से ही दूर नहीं हो सकते। पापी जीव पाप का आचरण करके शुद्ध नहीं हो सकता। आत्मशुद्धि के लिए पापों का त्याग करने की आवश्यकता है।

भगवान् ऋषभदेवजी ने अपने पुत्रों से कहा—तुम किस चक्कर में पड़े हो? राज्यसम्पदा शाश्वत नहीं है। उससे आत्मा का कल्याण भी नहीं हो सकता। मनुष्य का जीवन इतना मूल्यवान् है कि इस जीवन को विषयभोगों मे न गँवाते हुए शाश्वत कल्याण के कार्यों मे ही लगाना चाहिए। जिस राज्य को दूसरा कोई भी छीन सकता है और जो राज्य इस जीवन में भी अन्त तक साथ नहीं रह सकता, वह परलोक में क्या काम आएगा? परलोक में उससे क्या कल्याण होने वाला है? अतएव इस नाशशील राज्य के ममत्व को त्याग कर अक्षय साम्राज्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बनो। ऐसा करने पर तुम लोग काल पर भी विजय पा सकोगे।

ससार की कोई भी पर्याय नित्य नहीं है। स्वर्ग मे निवास करने वाले देव भी अपनी आयु पूर्ण होने पर मरते हैं। राजा हो या महाराजा हो; बादशाह हो या नवाब हो, सेठ हो या साहूकार हो, सभी को मौत आती है।

जिस मनुष्य ने इस सत्य को समझ लिया है, वह विवेकवान् है, वही पडित है, वही ज्ञानी है। वही काल को जीत सकेगा, वह मृत्युञ्जय बनेगा। कहा भी है:—

काल वैताल की धाक तिहूँ लोक में,
देव दानव घर रोल घाले ॥

बड़े-बड़े देवता भी मौत से डरते हैं और इस के डर के मारे रो देते हैं। वे सोचते हैं-स्वर्ग के सुखों से वचित होकर हमें न जाने किस योनि में जाना पड़ेगा।

भाइयो ! अगर आप मृत्यु के महान् भय से बचना चाहते हो तो उन सब कामों को छोड़ो, जिनसे जन्म-मरण की वृद्धि होती है और आत्मा को नीची गति में जाना पड़ता है। मैं कहाँ तक आपको समझाऊँ ? आप प्रतिदिन उपदेश सुनते हैं, मगर आपके चित्त पर कोई खास असर पड़ा हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। उधर भगवान् के उन भाग्यशाली पुत्रों को देखो जो एक बार ही उपदेश सुन कर संसार से विरक्त हो गये और सब के सब योगीश्वर बन गये। उन्होंने अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया। क्षुद्र सांसारिक राज्य के बदले विशाल, अक्षय, अनुत्तर और शिवस्वरूप मुक्ति के महान् साम्राज्य को प्राप्त कर लिया।

आपको उसी पथ पर चलना चाहिए। मैं कहता हूँ, अनन्त तीर्थङ्करों की साक्षी देकर कहता हूँ कि अक्षय और अखंड शान्ति का, सच्चे सुख का और अनन्त एवं अनुत्तर कल्याण का वही मार्ग है जो भगवान् ऋषभदेव ने बतलाया है। अगर आप उस पथ पर चलेंगे तो भाग्यशाली होंगे। कदाचित् आप में इतना साहस न हो तो शुद्ध चित्त से उस पथ पर चलने वालों की सराहना ही करो और अपने अन्तकरण को उस पथ पर चलने के लिए तैयार करो। ऐसा करने से आज नहीं तो कभी न कभी आपके लिए भी मुक्ति का द्वार खुल जायगा और तब आनन्द ही आनन्द हो जाएगा।

ता० १५-६-४८

४

समत्वयोग की साधना

स्तुतिः—

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र,
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य।
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकासिनोऽपि।

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहां तक स्तुति की जाय? भगवन्! आपके गुण कहां तक गाये जाएं?

हे जिनेन्द्र भगवन्! धर्म का उपदेश करने की जो पद्धति आपकी है, वह दूसरों की नहीं है। इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है? सूर्य की प्रभा जिस प्रकार अंधकार का नाश करने में

समर्थ होती है, उस प्रकार चमकते हुए ग्रहों का समूह भी अन्धकार को नष्ट नहीं कर सकता। भगवान् ऋषभदेव की ऐसी अद्भुत महिमा है, उन्हें ही हमारा बार-बार नमस्कार हो।

आचार्य महाराज ने यहां भगवान् ऋषभदेव की अन्य धर्मोपदेशकों के साथ तुलना की है। उनमें और अन्य उपदेशकों में उतना ही अन्तर है जितना सूर्य और ग्रहमण्डल में है। यह अन्तर सर्वज्ञ और असर्वज्ञ का अन्तर है, वीतराग और रागी के बीच का अन्तर है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि तीर्थंकर चौबीस हो चुके हैं और उन सब की आत्मशक्ति समान ही थी। उनके नाम अलग-अलग भले ही हों, परन्तु उनका स्वरूप सरीखा ही होता है। अतएव यहां जो तुलना की गई है, वह सर्वज्ञ वीतराग धर्मोपदेशक और छद्मस्थ धर्मोपदेशक की तुलना समझनी चाहिए।

कहा जा सकता है कि सभी लोग अपने अपने उपास्य देवों की प्रशसा करते हैं और उन्हें सब से उत्कृष्ट बतलाते हैं। सभी दूसरे मतों के देवों को हीन बतलाते हैं। ऐसी दशा में किस प्रकार विश्वास किया जाय कि तीर्थंकर भगवान् सूर्य के समान हैं और दूसरे ग्रहों के समान हैं ? इस भेद के लिए प्रमाण क्या है ?

यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हो सकता है। इसका विस्तार के साथ उत्तर दिया जाय तो कई दिन लगेंगे और ससार में प्रचलित सभी धर्मों, मतों और पंथों की समीक्षा करनी पड़ेगी। किन्तु यहां संक्षेप में ही कहने की कोशिश करेंगे।

सूर्य का उदय होने पर लोक में सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है। सूर्य के प्रकाश में हम छोटी से छोटी वस्तु भी देख लेने में समर्थ होते हैं। तारा गण भी प्रकाश तो करते हैं परंतु उनका प्रकाश उतना उज्ज्वल नहीं होता। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान् के ज्ञान में रूपी, अरूपी, सूक्ष्म, स्थूल जड़, चेतन द्रव्य, गुण और पर्याय आदि समस्त भाव यथावत् प्रतिभासित होते हैं, अतएव उनके उपदेश मे भी सभी का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है। जो धर्मोपदेशक अल्पज्ञ है और अपनी अल्पज्ञता को नहीं जानता अथवा जानता हुआ भी सर्वज्ञ का अनुगमन नहीं करता, उसका उपदेश न तो सब पदार्थों को प्रकाशित कर सकता है और न यथार्थ ही होता है।

इस कथन की प्रतीति का प्रत्यक्ष प्रमाण अनेकान्तवाद और एकान्तवाद है। सर्वज्ञ प्रभु ने वस्तु के समस्त अनन्त धर्मों-गुणों को जान कर यह प्रतिपादन किया है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है, जब कि अल्पज्ञों के उपदेश में कहीं यह बात दृष्टिगोचर नहीं होती। इस एक ही उदाहरण से सर्वज्ञ और अल्पज्ञ के उपदेश का अन्तर समझा जा सकता है।

सर्वज्ञ का उपदेश पूर्वापर विरोधी नहीं होता, वह किसी भी तर्क, युक्ति, अनुमान या प्रत्यक्ष से बाधित नहीं हो सकता, जब कि अल्पज्ञों के उपदेश में पग-पग पर विरोध होता है और उनके वचन प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणों से बाधित होते हैं।

सूर्य का प्रकाश होने पर जैसे ग्रहों का अल्प प्रकाश भी ढँक जाता है उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान् के सामने अल्पज्ञों का

तेज फीका पड़ जाता है। इन्द्रभूति गौतम कितने अभिमान के साथ भगवान् महावीर के सामने गए थे ? वे शास्त्रार्थ करके भगवान् को पराजित करना चाहते थे। मगर ज्यों ही भगवान् के सामने पहुँचे, त्यों ही उनका सारा अभिमान गल कर पानी-पानी हो गया और वे अपने पांच सौ शिष्यों के साथ भगवान् के चेले बन गए! ऐसा होता है सर्वज्ञ भगवान् का तेज। उनके प्रभाव के समक्ष सारे ससार के तेज फीके हैं।

यहाँ भगवान् को सूर्य की जो उपमा दी गई है, सो लाचारी-वश ही समझना चाहिए। अल्पज्ञों के साथ तुलना करने के लिए यह उपमा अच्छी है। मगर यह पूर्ण उपमा नहीं है। सर्वज्ञ की उपमा किसी से दी ही नहीं जा सकती। वे अनुपम हैं, असदृश हैं, ससार की कोई वस्तु उनकी तुलना में नहीं आ सकती। किसी ने कहा है—

राम-रावणयोर्युद्धं राम-रावणयोरिव ॥

अथवा—

गगनं गगनोपमम् ।

अर्थात्—किसी ने किसी से पूछा—राम और रावण का युद्ध किसके समान हुआ था? उत्तर दिया गया—राम और रावण का युद्ध राम और रावण के युद्ध के समान ही हुआ था! किसी ने प्रश्न किया—आकाश किसके बराबर है? उत्तर मिला-आकाश, आकाश के ही बराबर है।

भाइयो! इसके सिवाय और क्या उत्तर दिया जा सकता है? संसार में कोई दूसरी वस्तु आकाश के बराबर नहीं है, तो

फिर आकाश की बराबरी किससे बतलाई जाय ? इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान् की कोई तुलना नहीं हो सकती।

सूर्य सिर्फ द्रव्य अन्धकार को नष्ट करता है, भगवान् अपने उपदेश के द्वारा अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करते हैं। सूर्य कभी उदित होता है और कभी अस्त हो जाता है, भगवान् का ज्ञान सदैव प्रकाशमान रहता है। सघन मेघ सूर्य के सामने आकर उसके प्रकाश को आच्छादित कर सकते हैं, मगर भगवान् का ज्ञान कभी आच्छादित नहीं हो सकता, इस प्रकार भगवान् के ज्ञान की महिमा सूर्य से भी बढ़ कर है। इसी स्तुति में अन्यत्र कहा है.—

सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके।

अर्थात् - हे मुनियों के नाथ ! आपकी महिमा इस लोक में सूर्य से भी बढ़ कर है।

भगवान् का उपदेश 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' कहलाता है। वह बहुत विशाल है। गागर में सागर की तरह उस विशाल निर्ग्रन्थ-प्रवचन में से यह एक संक्षिप्त संग्रह किया गया है, जिसका सार आपको गत छह दिनों से सुनाया जा रहा है। यह उन्हीं सर्वज्ञ भगवान् की ज्योति की आलोकमय किरणें हैं। इन्हीं वचनों से उन्होंने अपना कल्याण किया और वही वचन दुनिया को सुनाये हैं। वही वचन आज हम आपको सुना रहे हैं। इन प्रवचनों में कोई फर्क नहीं है। आगम बतलाता है कि भगवान् के द्वारा प्ररूपित बारह अंग अर्थ की अपेक्षा नित्य हैं, अविनाशी हैं। अनादिकाल से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। इनमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

बात यह है कि सत्य शाश्वत वस्तु है; उसका स्वरूप कभी बदल नहीं सकता। अतएव सत्य का निरूपण करने वाले वचनों का स्वरूप भी कभी बदल नहीं सकता। उदाहरण के लिए तत्त्वों को लीजिए। जब भगवान् ऋषभदेवजी तीर्थङ्कर हुए तब भी नौ तत्त्व थे, बीच के बाईस तीर्थङ्करों के समय में भी नौ ही तत्त्व थे और भ० महावीर के जमाने में भी नौ ही तत्त्व थे और आज भी नौ तत्त्व हैं। अगली उत्सर्पिणी कालों में भी नौ तत्त्व रहेंगे। उनकी संख्या में न्यूनता या अधिकता नहीं होती अतएव उनकी प्ररूपणा भी सदैव एक सरीखी रहती है। नौ तत्त्वों में पहला जीव तत्त्व है। जीव का लक्षण चेतना है। जीव का यह स्वरूप भी त्रिकाल में एक सा रहने वाला है। यह लोक षट् द्रव्यमय है। अनादि काल से इसमें षट् द्रव्य हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। न कभी कोई नया द्रव्य उत्पन्न हो सकता है और न छह में से किसी भी द्रव्य का विनाश हो सकता है। ऐसी स्थिति में उनकी प्ररूपणा में भी अन्तर नहीं आ सकता। मतलब यह है कि सत्य का निरूपण सदा काल समान ही होगा। अतएव उसकी प्ररूपणा भी वस्तुत. सदा समान ही होगी।

व्यावहारिक उदाहरण लीजिए। जीवधारी आज आँखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, जीभ से चखते हैं, नाक से सूंघते हैं, और स्पर्शेन्द्रिय से छूते हैं। तो क्या कोई काल ऐसा भी हो सकता है जब इस प्राकृतिक नियम में उलटपलट हो जाय? संभव है कि कोई कभी नेत्रों से देखने के बदले सुनने लगे और कानों से देखने लगे? जीभ से सूंघने लगे और नाक से चखने लगे? नहीं अनादि काल से प्रकृति का जैसा नियम चला आ रहा है, अनन्त काल तक वैसा ही चलता रहेगा। उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं

होगा। अतएव अगर इन्द्रियों के विषय के संबंध में कोई प्ररूपणा की जाय तो वह सदैव एक सी ही होगी।

इन उदाहरणों के सहारे सहज ही समझा जा सकता है कि पदार्थों का वास्तविक स्वरूप सदैव एक-सा बना रहता है और यही कारण है कि प्रत्येक युग के तीर्थङ्करों के वचन सदा एक से रहते हैं।

चारित्र धर्म के मूल अंगों के विषय में भी यही बात है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यह पांच व्रत आज आचरणीय हैं तो भूतकाल मे भी आचरणीय थे और भविष्य काल में भी आचरणीय ही रहेंगे। यह बात दूसरी है कि इन व्रतों के आधार पर अनेक सामयिक नियम और उपनियम बनते और मिटते रहते हैं समय-समय पर आचार्यों को अनेक नियम बनाने पड़ते हैं, मगर वे नियम तीर्थंकर भगवान् के साक्षात् कहे हुए नहीं हैं, अलबत्ता सामान्य रूप से भगवान् ने देश काल के अनुरूप प्रवृत्ति करने की आज्ञा दी है। फिर भी समय-समय पर बनने वाले नियम अहिंसा आदि मूल नियमों के अनुरूप ही होने चाहिए, प्रतिकूल नहीं। उन नियमों से सर्वज्ञों की प्ररूपणा की एकरूपता में कोई बाधा नहीं आती।

भाइयो! कहने का आशय यह है कि आज आप जो निर्ग्रन्थप्रवचन सुन रहे हैं वह अर्थ दृष्टि से आदि काल से चला आता है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। उसकी बदौलत अनन्त जीव अपना कल्याण कर चुके हैं और अनन्त जीवों का कल्याण होगा। जरा विचार करो कि आपका पुण्य कितना

प्रबल है कि आपको यह अनमोल उपदेश सुनने का अवसर मिल रहा है ?

एक पढ़ा-लिखा विद्वान् आदमी था, मगर उसकी आदत पड़ गई थी कि वह कैसी भी और कोई भी पुस्तक देखता, उसमें गलतियां बताये बिना नहीं रहता था। एक अग्रवाल भाई ने उसे निर्ग्रन्थप्रवचन पढ़ने को दिया और कहा कि इसमें कोई गलती हो तो निकालिएगा। उसने पढ़ा। कितने ही दिनों के बाद उससे पूछा गया कि आपने कोई गलती देखी ? तब उसने कहा कि इसमें तो मक्खन ही मक्खन है। अनेक पत्रों और पत्रिकाओं ने उसकी प्रशंसा की है और बहुसंख्यक जैन एव जनेतर विद्वानों ने भी मुक्त कंठ से सराहना की है। यह छोटी-सी किताब है मगर मिलता इससे बड़ा खिताब है। मैं यह बात अपनी प्रशंसा के लिए नहीं कहता, क्योंकि इसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है। यह तो केवलज्ञानियों की ही वाणी है और जो प्रशंसा हुई या होती है, वह उसी वाणी की प्रशंसा समझना चाहिए। मैं तो उसमें निमित्त मात्र हूँ।

भाइयों! अगर आप प्रतिदिन निर्ग्रन्थप्रवचन का पाठ किया करें तो आपके जीवन में अपूर्व जागृत आएगी। अधिक न हो सके तो प्रतिदिन एकाध अध्ययन को ही पढ़ा करें और पढ़ न सकते हों तो किसी से सुना करें, समझा करें। इसके पढ़ने सुनने से बुद्धि विशुद्ध और निर्मल बनेगी और आपको इसी जीवन में शान्ति का अनुभव होने लगेगा।

निर्ग्रन्थप्रवचन के पन्द्रहवें अध्ययन में मन का निग्रह करने के विषय में निरूपण किया गया है। मनुष्य के जीवन में मन

बड़ा ही महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। यों कहना चाहिए कि सारे जीवन की इच्छाइयाँ और बुराइयाँ मन के ऊपर ही अवलम्बित हैं। वेचारा शरीर और वाणी तो मन के अनुचर मात्र हैं। मन इनका संचालक है। अगुवा है। वह इन्हें जिस ओर ले जाना चाहता है, उधर ही वे चलते हैं। पाप और पुण्य का उपार्जन प्रधानतया मन के द्वारा ही होता है। संकल्प-विकल्प करने की शक्ति मन में है। मन बड़ा जबरदस्त है। बडा चंचल और हठीला है। इसका निग्रह करना अत्यन्त कठिन है। भारत के जैन और जैनेन्तर ऋषियों ने मन का निग्रह करने के लिए अनेक उपाय बतलाये है, फिर भी इसका निग्रह करना साधारण बात नहीं है।

गीता में भी यही बात कही गई है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समत्वयोग की उपयोगिता और महत्ता बतलाई। समत्वयोग या समभाव ही संसार से छुटकारा दिलाने वाला है और वही सब योगों में उत्तम है। समभाव की यह महिमा सुनकर अर्जुन जैसा वीर भी कहता है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्‌दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् - आपने समत्वयोग या समभाव की साधना का उपदेश तो दिया मगर यह साधना मैं करूँ कैसे? यह चंचल मन तो बड़ा ही उपद्रवी है, जबर्दस्त है और अपनी धुन का पक्का है। मन का निग्रह करना अर्थात् मन को अपने अधीन करना, उसे एकाग्र करना, मुझे वायु को रोकने की तरह अत्यन्त ही कठिन मालूम होता है।

अर्जुन जैसा वीर पुरुष भी, जिसके बल और पराक्रम की बात सुनकर ही बड़े-बड़े योद्धा काँप उठते थे और जिसके गांडीव की धाक से हृदय हिल उठता था, मन के आगे असहाय सा मालूम होता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मन का निग्रह हो ही नहीं सकता। मन का निग्रह करना अगर असंभव होता तो उसे करने का उपदेश ही क्यों दिया जाता? महापुरुष किसी असंभव कार्य को करने का उपदेश नहीं देते। अतएव मन का निग्रह कठिन होते हुए भी शक्य है। महात्मा पुरुष उसको एकाग्र करते रहे हैं और करते भी रहेंगे। अर्जुन ने जब अपनी कठिनाई श्रीकृष्ण के सन्मुख रक्खी तो उन्होंने भी कहा—

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

—गीत, अ ६, ३५-३६

कृष्णजी कहते में—हे महाबाहु ! इसमें कोई सन्देह नहीं कि मन बहुत ही चचल है और उसको रोकना कठिन है, फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसे रोका जा सकता है।

जो असयमी है अर्थात् अपने आपको काबू में नहीं रखता, वह समत्वयोग को भले ही प्राप्त न कर सके, किन्तु जिसने अपनी आत्मा को वशीभूत कर लिया है, वह उपाय करके समत्वयोग को प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार गीता के अनुसार अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन का निग्रह किया जा सकता है। परन्तु प्रश्न यह खड़ा होता है कि अभ्यास और वैराग्य की साधना भी किस प्रकार की जाय ? अभ्यास करने का अर्थ यह है कि मन को एकाग्र करने की निरन्तर चेष्टा करते रहो, कभी वह बहक जाय और इधर-उधर भाग खड़ा हो तो उसे फिर प्रयत्न करके ठिकाने ले आओ। मगर ऐसा करने के लिए भी और कई बातों की आवश्यकता है। एक बार मन को वश में करके फिर ऐसे निमित्त नहीं मिलने देने चाहिए, जिससे मन की एकाग्रता में बाधा खड़ी हो जाय। लोहे के ऊपर कितना ही वजनदार पत्थर पटको, लोहा फैलता नहीं; लेकिन उसी को आग में रख दिया जाय तो गल कर पानी-पानी हो जाता है, इसी प्रकार मजबूत से मजबूत मन वाले भी खराब निमित्त मिलने पर खराब हो जाते है। अतएव जो मन का निग्रह करना चाहते हैं, उन्हें प्रतिकूल सयोगों से सदैव बचते रहना चाहिए।

प्रतिकूल सयोग कौन-कौन से हैं, यह पूरी तरह बतलाना कठिन है। प्रत्येक साधक स्वय ही इसका निर्णय कर सकता है। फिर भी दिशा-सूचन की दृष्टि से भगवान् ने कुछ बातें बतलाई हैं। भगवान् फरमाते है कि मन का निग्रह करने वाले साधकों को चाहिए कि वे सब पहले स्त्री के सपर्क से बचते रहें। खास तौर से सुनसान जगह में, वीरान भूमि में, गली में, बाजार में या अन्यत्र किसी भी जगह में अकेली स्त्री के साथ खड़े होकर बात-चीत नहीं करना चाहिए। जो भी कोई साधक अपने मन को वशीभूत बनाना चाहता है, वह चाहे गृहस्थ हो या साधु, उसे इस नियम का दृढ़ता के साथ पालन करना चाहिए। कोई भी

स्त्री क्यों न हो, चाहे लड़की हो, पोती हो या बहिन हो, अकेली से बात-चीत न करना ही योग्य है। क्योंकि दुनियां को क्या पता है कि यह आपकी लड़की या पोती है ? अगर तुम उसे वार्तालाप करोगे तो भले ही तुम्हारा चित्त निर्मल रहे, मगर दुनियां में तुम्हारी वेइज्जती तो हो ही जायगी। इसीलिए मनुस्मृति में मनुजी ने भी लिखा है कि अपनी लड़की से भी अकेले मे बात-चीत नहीं करनी चाहिए।

भाइयो ! दुनिया में प्रतीति भी बड़ी चीज है। संसार व्यावहार में देखो कि जिस दुकान की पैठ उठ जाती है, उसे दो रुपये की चीज भी उधार नहीं मिलती या मुश्किल से मिलता है। इसके विरुद्ध जिसकी पैठ जमी हुई है उसके पास चाहे कुछ भी न हो, फिर भी उसे हजारों का माल उधार मिल जाता है। यही बात व्यक्तिगत आचरण के विषय में भी समझनी चाहिए। कलाल की दुकान पर जाकर दूध पीओगे तब भी लोग यही समझेंगे कि शराब पी ली होगी ! कहा भी है—

यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं, न हि करणीयं न हि चरणीयम्।

अर्थात्—कोई काम भले निर्दोष हो, फिर भी अगर वह लोकविरुद्ध है तो उसे न करना ही उचित है।

देखो, केवली भगवान् के पास तो केवलज्ञान की अखण्ड और अनन्त ज्योति है, ऐसी ज्योति है जिसका मुकाविला करोड़ों सूर्य भी नहीं कर सकते, किन्तु वे भी रात्रि में विहार नहीं करते, क्योंकि उन्हें भी व्यवहार का खयाल रखना पड़ता है। उनके लिए तो दिन और रात बराबर ही हैं। वे चराचर सभी कुछ जानते हैं,

किन्तु इसी कारण विहार नहीं करते कि लोक के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए।

न जाने तुमने किस लिए अपनी बेटी के श्वसुर से रुपये लिये, मगर लोग तो यही समझेंगे कि बेटी के रुपये लिये होंगे। इस प्रकार जिसकी इज्जत चली जाती है उसे कोई लड़की भी देना नहीं चाहता क्योंकि वे समझ लेते हैं कि इसके घर में क्या रक्खा है।

हमारे यहाँ कई लोग कहने लगते हैं—व्यवहार में क्या पडा है निश्चय होना चाहिए। व्यवहार एकान्त मिथ्या है और निश्चय ही एकान्त सत्य है। ऐसे लोग भ्रम मे है। निश्चय सत्य है; परमार्थ है, आराध्य है, यह सत्य है किन्तु निश्चय की प्राप्ति साधन के बिना नहीं हो सकती और व्यवहार ही उसका साधन है। एकान्त निश्चय का आग्रह करने वाले व्यवहार को उपेक्षणीय और त्याज्य समझने वाले भी व्यवहार का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते। अगर वे त्यागते हैं तो निश्चय को प्राप्त नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए निश्चयनय से आत्मा सिद्ध, बुद्ध, कर्म-लेप से रहित, चैतन्यमय और परमात्म-स्वरूप है। निश्चयनय की दृष्टि से भावना की जाती है:—

सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं, अणंतणाणादिगुणसमिद्धो ऽहम्।

अर्थात्—मैं सिद्ध हूं, बुद्ध हूँ अनन्तज्ञान आदि से सम्पन्न हूँ।

इस निश्चय-कथन को ही अगर एकान्त रूप में स्वीकार किया जाय तो तप, त्याग, स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन-मनन आदि की क्या आवश्यकता है? समितियों और गुप्तियों के पालन करने

का क्या प्रयोजन है ? आहार आदि के दोष टालने की क्या आवश्यकता है ? अपने गुरुजनों की और भगवान् की भी भक्ति, स्तुति आदि क्यों करना चाहिए ? आत्मा तो सिद्ध स्वरूप है, फिर क्या करना शेष रह गया ?

बात यह है कि निश्चयनय वस्तु के शुद्ध स्वरूप का-उसकी असलियत का विचार करता है। इसी दृष्टि से आत्मा सिद्ध और बुद्ध कहलाता है। व्यवहार आत्मा के अशुद्ध स्वरूप का विचार करता है। दोनों नयों से दोनों प्रकार का स्वरूप समझकर, अशुद्ध स्वरूप से शुद्ध स्वरूप में जाना उचित है। व्यवहार नय आत्मा की मौजूदा स्थिति को बतलाता है और निश्चय नय हमारी आदर्श स्थिति को बतलाता है। आत्मकल्याण के लिए दोनों उपयोगी हैं। निश्चय को भुला देने से हमारा कोई लक्ष्य ही नहीं रह जायगा और हमें यह भी पता नहीं चलेगा कि आखिर हम कहाँ पहुंचना चाहते हैं ? क्या चाहते हैं ? हमारा उद्देश्य क्या है ? इस प्रकार लक्ष्यहीन होकर हम भटकते फिरेंगे इसी प्रकार व्यवहार को भुला देने में हम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ नहीं सकेंगे, हमारा मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। अतएव निश्चय के साथ व्यवहार और व्यवहार के साथ निश्चय की आवश्यकता है।

भाइयो ! आपको दो नेत्र प्राप्त हैं। मानों प्रकृति आपको सकेत कर रही है कि एक नेत्र से व्यवहार को देखो तो दूसरे नेत्र से निश्चय को भी देखो। पक्षी दो पंखों से उड़ सकता है। एक पंख अगर टूट जायगा तो वह कीड़े की तरह रेंगता हुआ भले ही चल ले, मगर पक्षी की तरह उड़ नहीं सकता। इसी प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों को अपनी दृष्टि के सामने रखकर ही

आचरण करना चाहिए। जो लोग निश्चय के प्रेमी हैं उन्हें व्यवहार का भी निषेध नहीं करना चाहिए और जो व्यवहार में ही रचे-पचे हैं उन्हें निश्चय स्वरूप को भी समझने का प्रयत्न करना चाहिए। एकान्तवाद प्रभु की आज्ञा के विरुद्ध है। अतएव एकान्त को मानना योग्य नहीं है। मुमुक्षु पुरुष दोनों पखों की भाँति यथायोग्य दोनों का अवलम्बन करके अपनी आत्मा का कल्याण करता है। एकान्तवादी का कल्याण होना कठिन है।

हाँ, तो खास तौर पर साधु को अकेली स्त्री के साथ बातचीत नहीं करनी चाहिए। स्त्री को भी चाहिए कि वह अकेले पुरुष से ऐसे किसी भी स्थान पर बातचीत न करे। यह सोलहवे अध्ययन में बतलाया गया है।

इसके अतिरिक्त जहाँ कुत्ते आपस में लड़ रहे हों, बैल या सांड लड़ रहे हों, हाथी–घोड़े भागे आ रहे हों या लड़ रहे हों ज्ञानी पुरुष को ऐसी जगह से आवागमन नहीं करना चाहिए, भले ही दूसरे रास्ते से जाने पर कुछ चक्कर ही क्यों न काटना पड़े। अगर अकड़ में आकर उस रास्ते से जाओगे तो कुत्ता काट खायगा या बैल सींग मार देगा तो तुम्हारी हड्डी–पसली टूट जायगी या हाथ–पैर में चोट आ जायगी! अस्पताल मे पड़ा रहना पड़ेगा। उतने दिन ठीक तरह धर्मध्यान नहीं बनेगा, चित्त मे अशान्ति रहेगी, आर्त्तध्यान होगा और कमाई भी जायगी। मगर इतने से ही छुटकारा नहीं मिलेगा, डाक्टरों के आगे गिड़गिड़ाना पड़ेगा और गांठ का पैसा खर्च करके उनकी जेब भरनी होगी। अतएव दूरदर्शिता का तकाजा है कि बुद्धिमान् मनुष्य पहले ही बच कर रहे और ऐसा प्रसग ही उपस्थित न होने दे।

कोई समय ऐसा आ सकता है कि साधु अचेल हो जाय और चाहने पर भी वस्त्र न मिले। ऐसे प्रसंग पर अपना धर्म समझकर विषमभाव धारण नहीं करना चाहिए। आवश्यक वस्तु मिल जाय तो ठीक है और न मिले तो भी ठीक है। लाभ और अलाभ में समभाव रखने वाला साधु कभी दुःख का अनुभव नहीं करता। जो लाभ होने पर हर्ष का अनुभव करता है उसे अलाभ की दशा में विषाद हुए विना नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में अन्त करण राग-द्वेष से कलुषित होता रहेगा और कर्मों का बंध हुए विना नहीं रहेगा।

गृहस्थों को भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। जीवन में नाना प्रकार के प्रसंग उपस्थित होते रहते हैं। कहावत प्रचलित है—कभी घी घना, कभी मुट्ठी चना। अर्थात् कभी-कभी इच्छानुसार उत्तम पदार्थों को प्राप्ति होती है तो कभी-कभी भरपेट भोजन के भी लाले पड़ जाते हैं। परन्तु विवेकशील गृहस्थ इन विषम अवस्थाओं में हर्ष-शोक के वशीभूत न होकर मध्यस्थभाव ही धारण करता है। प्रत्येक परिस्थिति में एक प्रकार की मस्ती रहती है तो जीवन आनन्दमय बनता है। अतएव कभी इच्छा के अनुकूल वस्तु मिल जाय तो भी रूक्ष वृत्ति रक्खो और न मिले तो भी रूक्षवृत्ति रक्खो। किसी से लड़ाई झगड़ा मत करो। ऐसा करने से कोई लाभ नहीं होता। तुम्हारी और दूसरों की शान्ति भंग होती है और क्लेश बढ़ता है। ऐसा करने से धीरे धीरे आपका मन समभाव का अभ्यासी हो जायगा और चित्त का निग्रह करने का सामर्थ्य आपको प्राप्त हो सकेगा।

मान लीजिए, कोई साधु किसी गृहस्थ के घर भिक्षा आदि किसी प्रयोजन से गये। गृहस्थ ने उनका तिरस्कार कर दिया और कह दिया–जाओ, हमारे घर क्यों आये ? ऐसी स्थिति में ज्ञानवान् साधु के चित्त मे किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न नहीं होना चाहिए। साधु अपने सन्मान और अपमान को समान भाव से ग्रहण करते हैं। कोई उन्हें वन्दना करे या लाठी से पीटे, उनके लिए दोनों समान हैं। जिसमें ऐसा समता भाव आ गया है, वही अपने मन का निग्रह करके अक्षय पद का अधिकारी होता है।

यह जो शिक्षा हमारे लिए है, वही आपके लिए भी है। वस्तुतः साधु और श्रावक का मार्ग एक ही है। यह बात नहीं है कि साधु को उत्तर में जाना हो और श्रावक को दक्षिण में जाना हो। दोनों को एक ही दिशा में जाना है और दोनों का मार्ग भी एक ही है। अन्तर है सिर्फ आगे–पीछे का। साधु जिस मार्ग पर आगे बढ़ गये हैं, गृहस्थ उस मार्ग पर अभी पीछे है। अहिंसा सत्य आदि का जो पथ साधु के लिए बतलाया गया है, वह श्रावक के लिए भी बतलाया गया है। मात्रा का भेद होने पर भी वास्तव मे कोई मौलिक भेद नहीं है। अतएव साधु के लिए भगवान् ने जिस आचार का प्रतिपादन किया है, वही यथायोग्य श्रावक के लिए भी लागू होता है।

हां, तो साधु के लिए जो शिक्षा है, वह आप अपने लिए भी समझ लें। आप किसी के घर गये और किसी कारण से उसने कह दिया—हमारे यहां क्यों आये हो ? तो आपको शान्ति के साथ कह देना चाहिए—अच्छा साहब क्षमा कीजिए, मुझे

नहीं मालूम था कि मेरा आना आपको नापसन्द होगा। इस प्रकार कहने से आप अपनी शान्ति को सुरक्षित रख लेंगे, अपने चित्त को व्यथित होने से बचा लेंगे और संभव है कि उसका प्रभाव आपके अपमान करने वाले पर भी पड़े! आपकी शान्ति देखकर वह भी पानी-पानी हो जायगा। आगे के लिए उसे शिक्षा मिलेगी। इसके विरुद्ध अगर आपने दूसरा तरीका अख्तियार किया, आपभी आग बबूला हो गये और नागे के सामने नागा बनने की नीति अंगीकार की तो उसका भी फजीता होगा और आपका भी फजीता होगा; वह क्रोधी है और आप भी क्रोध हो जाएँगे तो दोनों में क्या अन्तर रह जायगा? उसके समान बन जाने पर भी आपको कोई लाभ नहीं होगा। आपकी आत्मा तो कषाय से कलुषित हो ही जायगी।

दूसरी तरह से भी विचार कीजिए। आप अपना अपमान होता देखकर बदले में उसका अपमान करने को तैयार होंगे तो क्या आपका अपना धुल जायगा? नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि आपकी गर्मागर्म बातें सुनने के लिए आसपास के सैकड़ों तमाशबीन जो इकट्ठे हो जाएँगे, उन पर भी आपके अपमान की बात जाहिर हो जायगी और तब आपके लिए अधिक लज्जा की बात होगी। अतएव भगवान् का आदेश है कि प्रत्येक परिस्थिति में, प्रत्येक समय विवेक को ही अपने सामने रक्खो, विवेक के इशारे पर ही चलो, क्षण भर के लिए भी विवेक को मत बिसारो। क्षमा भाव रक्खो, क्रोध मत करो। दोनों में जो क्षमाभाव रक्खेगा वही ज्ञानी और बुद्धिमान् कहलाएगा। किसी ने कहा है.—

क्षमा बडन को चाहिए, छोटों को उत्पात।
कहा विष्णु को घटि गयो, भृगुजी मारी लात ॥

भृगु ने विष्णुजी की छाती में लात मार दी। विष्णुजी ने जरा भी क्रोध नहीं किया, उलटा वे भृगु का पैर सहलाने लगे। कहने लगे—मेरी कठोर छाती मे आपका कोमल पैर लगने से सभव है आपको कष्ट हुआ हो। मुझे क्षमा करना! इसे कहते हैं बड़प्पन! यह बड़प्पन दिखलाने के कारण विष्णु की प्रतिष्ठा में कमी नहीं हुई; वल्कि वे महादेवजी और ब्रह्माजी से भी बड़े देवता गिने गये। मतलब यह है कि बड़प्पन क्षमा में है, शान्ति मे है, सहनशीलता में है। जैसे को तैसा बनने में नहीं है।

भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति की तरफ ध्यान दो। जब से देश स्वतंत्र हुआ है, तब से अनेक राजनीतिक दल जोर पकड़ते जा रहे हैं। वे कांग्रेस सरकार की सच्ची-झूठी अनेक प्रकार की नुक्ता चीनी करते हैं, अनेक तूफान खड़ा करते हैं, दिन रात कोसते हैं, फिर भी सरकार बड़ी शान्ति के साथ सभी कुछ सहन करती है और यथासभव सुव्यवस्था करने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार बड़े सदा बड़प्पन का ही विचार करते हैं। वे छोटों के मुकाबिले में छोटे नहीं बन जाते।

एक कुत्ता बोला—मैं बड़ा जबर्दस्त हूँ। उससे पूछा गया—तुम किस बात मे बडे हो? उसने उत्तर दिया—मैं दुनिया को भौंकता हूँ लेकिन मुझे कोई नहीं भौंकता। उससे कहा गया—जनाब दुनिया आप जैसी नहीं है, इसलिए आपको नहीं भौंकती। आपको वही भौंकेगा जो आप सरीखा होगा। इसलिए आप अपनी विजय का भले घमंड करें मगर दुनिया आपको जानती है।

संसार में तरह-तरह के प्राणी होते हैं। कोई-कोई तो इतने अधम होते हैं कि वे साधु तक के प्राण लेने को तैयार हो जाते हैं। गुजरात में श्रीलवजी ऋषि हो गये हैं। पारणा के दिन किसी ने उन्हें जहर दे दिया था। वे समभावी ऋषि उसे खा गये, स्वर्गवास हो गया। यह थोड़े अर्से की ही बात है। इससे पहले के इतिहास के पन्ने खोले जाएँ तो विदित होगा कि अनेक महान् सन्तों की निर्दयता के साथ हत्या की गई है। स्कंधक मुनि की जीते जी खाल उतरवा ली गई थी और पांच सौ मुनियों को घाणी में पील दिया गया था। मेतार्य मुनि के मस्तक पर गीले चमड़े का पट्टा बाँधकर उनके प्राण ले लिये गये थे। और गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर खीरा रख दिये गये थे। मगर वे ऐसे महापुरुष थे, जिन्होंने समभाव रखते हुए इस नश्वर शरीर का त्याग किया और ऐसी गति पाई या पाएँगे, कि फिर कभी जन्म-मरण ही न करना पड़े।

उच्च कोटि के महात्मा शरीर में रहते हुए भी शरीर में आसक्त नहीं होते। वस्तुतः शरीर अलग है और आत्मा अलग है। जैसे म्यान और तलवार अलग-अलग हैं, उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। इस बात को प्रत्येक आस्तिक जानता है, फिर भी मोह की महिमा ऐसी है कि लोग शरीर में आत्म बुद्धि स्थापित कर लेते हैं और शरीर के कष्ट को आत्मा का कष्ट मान लेते हैं। मगर महात्मा पुरुषों की भावना कुछ निराली ही होती है। जब कोई शारीरिक कष्ट आता है तो वे अपनी आत्मा के स्वरूप में अवगाहन करते हैं और देहाध्यास से ऊपर उठ कर अपने समभाव को कायम रखते हैं। वे सोचते हैं—मैं सत्—चित्—परमानन्दमय चेतन हूँ और शरीर जड़ पदार्थ है।

मैं अजर-अमर-अविनाशी हूँ और शरीर क्षण-क्षण में बदलने वाला पर्याय है। यह रहे तो भला और न रहे तो भला! इसके रहने या जाने से मेरा क्या जाता है? अगर शरीर चला भी गया तो मेरा क्या जायगा? कर्म शेष हैं तो शरीर फिर मिल ही जायगा, वल्कि इस जर्जरित शरीर के बदले नया शरीर मिलेगा। और यदि इसी जीवन में समस्त कर्मों का क्षय हो गया तो फिर कहना ही क्या है! मेरी साधना सफल हो जायगी, मैं कृतार्थ हो जाऊगा और मुझे सर्वोत्तम पद की प्राप्ति हो जायगी। इस प्रकार के पारमार्थिक विचार के कारण उन्हें किसी भी प्रकार की अशान्ति नहीं सताती और वे आत्मानन्द के रस में ही डूबे रहते हैं। अगर आप भी ऐसी मनोवृत्ति बना लें तो संसार की कोई भी शक्ति आपकी शान्ति को खंडित नहीं कर सकेगी। प्रत्येक दशा में आप सन्तुष्ट रह सकेंगे आपको अखण्ड आनन्द इस जीवन में मिल जायगा।

आत्मस्वरुप को चिन्तन किस प्रकार करना चाहिए? इस संबंध में कहा—

मैं नित्य—अखंड अनादि अतुलित बल रूप हमारा है।
इस तन से क्या संबंध मेरा यह नाशवान् निस्सारा है॥

भाइयो! इसी भावना को लिए हुए गजसुकुमारजी और मेतार्य मुनि ने शरीर को छोड़ा। उन्होंने सोचा-मैं वह नहीं हूँ कि शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाऊं। शरीर तो कपड़े की तरह बदलता रहता है। इसके बदलने में हर्ष या शोक की क्या आवश्यक्ता है? शरीर के साथ आत्मा का संबंध ही क्या है?

जैसे दो आदमी साथ-साथ किसी रास्ते से जा रहे हैं। एक आदमी अपने घर चला गया और दूसरा अपने घर चला गया। इसी प्रकार यह शरीर यहाँ मिट्टी में मिल जायगा और आत्मा अपने स्थान पर चला जायगा। अतएव हे जीव! तू शरीर को आत्मा मानकर इस के सयोग-वियोग में सुख-दुख मत मान। हे साधु! जब प्राण जाने का समय आ जाय तो यही भावना रखना, जिससे जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा मिल जाय।

जो जीव दुष्ट कर्म करते हैं वे बार-बार जन्म मरण के दु खों के पात्र बनते हैं। ऐसों को 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' ही करना पड़ता है। दरअसल पण्डित वही है जो एकबार शरीर को त्याग कर फिर कभी शरीर को धारण नहीं करता। वह भी पण्डित ही गिना जाता है जो आप स्वयं सोचकर बुरे रास्ते न जाय और एक बार टोकने पर तो जाय ही नहीं।

भाइयो! पहले एन (इशारे) में और फिर बैन (वचन) में समझ जाना ही श्रेयस्कर है। क्यों मूर्ख बनते हो? छोटे छोटे बालकों के मुँह से लार टपकती है और फिर वे उसे चाट लेते हैं। उन्हें वैसी आदत है। इसी प्रकार आप में भी झूठ बोलने और बेईमानी करने की आदत पड़ी हुई है, मगर आप बालक नहीं हैं—सयाने हो गए हैं। अतः यह आदत छोड़ दो। अब समझ जाओ कि झूठ बोलने और चोरी करने की आदत बुरी है। अरे भाई! अब तो ज्ञानी बनो। क्या जिंदगी भर बाल ही बने रहोगे? जब तक तुम्हारा बालपन नहीं छूटेगा और पण्डित नहीं बन जाओगे तब तक दु खों से नहीं छूट सकोगे। मोक्ष में नहीं जा सकोगे।

इससे आगे भगवान् फरमाते हैं कि अज्ञानी जीव किस प्रकार मरते हैं ? किसी किसी को प्रचण्ड क्रोध आ जाता है। उस क्रोध के वश में होकर वे तलवार से अपनी गर्दन काट लेते हैं, कुए में कूद पड़ते हैं, बन्दूक की गोली लगा लेते हैं, अफीम आदि कोई जहर खा लेते हैं, आग में जल जाते हैं, पानी में डूब जाते हैं और किसी प्रकार अपना अपघात कर लेते हैं। इस प्रकार का मरण अज्ञान-मरण है किसी दूसरे पर भी आग, पानी, विष, शस्त्र आदि का प्रयोग करके उसका मरण नहीं निपजाना चाहिए। ऐसा करने वाला भव भव में जन्म मरण करता है और घोर नरक मे जाता है।

फिर भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम ! जिसमें पांच दोष होते हैं, उसे सत् शिक्षा प्राप्त नहीं होती। भगवान् कह गये हैं कि जिसमें पांच दोषों में से कोई दोष होगा उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। पॉच दोष इस प्रकार हैं:—

(१) अहंकार होना पहला दोष है। गधेड़ा चिल्लाता है—टीं-भूं टीं-भूं। अर्थात् जो हूँ सो मैं हूं। मगर कौन उसे बड़प्पन देता है ? इसी प्रकार जो मनुष्य अहंकार में चूर रहता है और अपने सामने किसी को कुछ गिनता ही नहीं है, उसे सम्यग्बोध की प्राप्ति होना कठिन है। अहंकारी आदमी को कोई बात समझाई जाय तो वह चाहे समझता हो या न समझता हो, मगर कहेगा यही कि यह तो मैं भी समझता हूँ। उससे कहा जाय कि चलो व्याख्यान सुन आएं। तो वह कहेगा—अजी, क्या रक्खा है उस व्याख्यान मे, मैंने अच्छो अच्छों के व्याख्यान सुन लिये हैं। पर उससे कोई कहे—अरे भले मानुस ! तुझे बहुत दिन हो गये हैं

खाते-खाते, तो अब खाना क्यों नहीं बंद कर देता ? खाना तो बद करता नहीं, लेकिन सत्संग में आना बंद कर रहा है, जिससे कल्याण होता है। कई लोग कहते हैं—साधुओं के व्याख्यानों में वही की वही बात आती है, कुछ नूतनता नहीं होती। ऐसा कहने वालों से पूछो कि तुमने अब तक कितना धारण कर लिया है ? वही का वही सुन कर सब कुछ धारण कर लिया है ? तो उत्तर में हें-हें-हें करके खीसें निकाल देंगे। इस प्रकार अहंकार रखने वाला ज्ञान का उपार्जन नहीं कर सकता। अहंकार विनय गुण को नष्ट कर देता है और विनय के बिना विद्या कैसे आ सकती है ?

(२) दूसरा दोष क्रोध है। क्रोधी मनुष्य भी शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता। क्रोधी को कहा जाय कि इधर-उधर ध्यान मत जाने दो, तो उसे क्रोध आ जायगा और वह पुस्तक ही फाड़ कर बैठ जायगा। ऐसा आदमी शिक्षा किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ?

(३) तीसरा दोष प्रमाद है। जो मनुष्य प्रमाद के वशीभूत होकर परिश्रम नहीं करता, ज्ञानप्राप्ति के लिए उद्योग नहीं करता, उसे शिक्षा नहीं प्राप्त होती। कहा भी है.—

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ॥

अर्थात्—आलस्य शरीर के भीतर घुसा हुआ महान् भयंकर शत्रु है।

अतएव शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों को सब प्रकार के प्रमादों से दूर रहना चाहिए।

(४) शिक्षा प्राप्ति मे चौथा बाधक कारण रोग है। जो व्यक्ति रोग का शिकार बना हुआ हो वह अध्ययन करने में समर्थ नहीं हो सकता। ज्ञानोपार्जन मे उसका मन ही नहीं लग सकता।

(५) पांचवां कारण आलस्य भी शिक्षा में बाधक होता है। आलसी वह है जो नया ज्ञान तो सीखता है किन्तु पहले सीखे हुए को भूलता जाता है। जो आगे-आगे सीखता है और पीछे पीछे भूलता जाता है, वह क्या कभी भी विद्वान् बन सकता है? नहीं। वह तो अंधी पीसे कुत्ता खाय की कहावत चरितार्थ करता है। कहा भी है –

कमाई कमाई ने कमाई धूल धाणी करे,
कहो ये तो श्रीमंत थावशे के वार मां?
पांच पग आगे धरे सात पग पाछा भरे,
कहो ये तो संग क्यारे पोंचसे केदार मां?
भणी भणी भूली जाय भणेलो चितारे नाय,
कहो ये तो विद्वान् थावसे के वार मां?
आंधली दले ने आटो श्वान आई चाटी जाय,
कहो ये तो आटो क्यारे आवशे आहारमां?

निश्चय बिगड़े तीन जना। 'जो कमावे तो कम, लेकिन खर्चे करे ज्यादा और शाम को सिनेमा मे जावे वह डाकी क्या कभी लखपति बन सकेगा? जो पाँच पैर आगे रखकर सात

है। तथापि इतना समझ रखना आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य के बिना शिक्षा की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्राचीन काल में भारतवर्ष में ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था इसी हेतु से की गई थी कि एकाग्र भाव से, संयमपूर्वक रहते हुए शिक्षा की प्राप्ति की जा सके। वह व्यवस्था जीवन निर्माण में बडी सहायक होती थी। खेद है कि आज वह व्यवस्था नहीं रह गई है और यही कारण है कि आज छोटे-छोटे बालक दूषित वातावरण में खराब हो जाते हैं और वे शिक्षा तथा संस्कार से सम्पन्न नहीं हो पाते। न उनके तन का विकास हो पाता है और न मन का ही विकास हो पाता है और फिर भी उनके सिर पर गृहस्थी का बोझा लाद दिया जाता है। ऐसी विरूप और विषम स्थिति में उत्कृष्ट शिक्षा की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। वास्तव में ब्रह्मचारी ही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

(६) अपने आचार-विचार को ऊँचा रखना चाहिए। जो आचार-विचार से पतित होगा, उसका चित्त कभी स्वस्थ नहीं हो सकेगा और ऐसी स्थिति में वह शिक्षा को भी प्राप्त नहीं कर सकेगा।

(७) शिक्षार्थी को क्रोधशील नहीं होना चाहिए। बात-बात में कुपित हो जाने वाला, गुरुजनों की जरा सी कठोर वाणी को सुनते ही आग उगलने वाला और क्रोध की आग में स्वयं जलने तथा दूसरों को जलाने वाला शिक्षा के योग्य नहीं है। अतएव जो क्रोधरहित होता है जिसका अन्तःकरण शान्त रहता है वही शिक्षा पा सकता है।

(८) सत्यपरायण होना शिक्षार्थी का आवश्यक गुण है। जो अपराध हो जाने पर और दंड की संभावना होने पर भी अपने अपराध को ढकने के लिए असत्य का आश्रय नहीं लेता, जो निर्भीक होकर सत्य को ही अपने सन्मुख रखता है, उसकी आत्मा बलिष्ठ बनती है और वही शिक्षा को प्राप्त करता है।

इसके आगे भगवान् फरमाते हैं—कोई व्यक्ति साधु हो गया है, दुनिया के सब प्रपंचों को छोड़ चुका है, फिर भी अगर औरतों के हाथ देखता है, पुरुषों के आगे सामुद्रिक शास्त्र की अपनी जानकारी बघारता है, तो वह संसार से तिर नहीं सकता। साधु को इन सब झगड़ों से कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए। इसी प्रकार स्वप्न का फल बतलाना या गंडा तावीज आदि बना कर देना, मंत्रविद्या सिखलाना या उसका प्रयोग करना आदि भी साधु के लिए वर्जित है। साधु जीवन का एक विशेष उद्देश्य होता है। जीवन की एक महान् साधना को सन्मुख रखकर साधुता स्वीकार की जाती है। अगर एकाग्र भाव से, दिन-रात, उसी उद्देश्य को सामने न रक्खा जाय तो साधु जीवन व्यर्थ हो जाता है और गार्हस्थ्य-जीवन भी बिगड़ जाता है। धोबी का कुत्ता घर का न घाट का, यह कहावत चरितार्थ होती है। साधु बने तो गृहस्थी के काम न रहे और साधु बन कर साधुता की भी साधना नहीं की ! ऐसे लोग 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट.' हो जाते हैं। अतएव जिसने साधुता अङ्गीकार की है, उसे सदैव अपने सामने महान् उद्देश्य रखना चाहिए और जंत्र-मंत्र आदि के झगड़ों में नहीं पड़ना चाहिए। ऐसा करने वालों का निस्तार नहीं हो सकता। कदाचित् मंत्र-तंत्र का प्रयोग

कदम पीछे लौट आता है, वह कभी अपनी मंजिल पूरी कर सकता है ? अंधी पीसती जाय और कुत्ता खाता जाय तो उस आटे की रोटियां बनने की नौबत कब आएगी ? इसी प्रकार जो इधर सीखता जाता है और उधर भूलता जाता है, वह कभी विद्वान् नहीं बन सकता।

तब फिर शिक्षा के योग्य कौन है ? भगवान् फरमाते हैं— जिसमें आठ गुण पाये जाए वह ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी है और उसी को ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। वे गुण इस प्रकार हैं.—

हसोड़ न होना। कोई शिक्षा की बात कहे तो सुनकर खिलखिला कर दांत न निकाले। जिसमें हसने की आदत होती है, जो बात-बात में हसी मजाक किया करता है, उसे शिक्षा प्राप्त नहीं होती, अतएव शिक्षा के इच्छुक पुरुष को हसनशील नहीं होना चाहिए। कहा जा सकता है कि हसी-मजाक करने से शिक्षा प्राप्ति में क्या बाधा आ सकती है ? इसका उत्तर यह है कि जिसकी आदत हंसी करने की हो जाती है, वह अच्छी से अच्छी बात को भी हंसी में उड़ा देता है। वह सभ्यता और शिष्टता को भी भूल जाता है। वह बड़ों की मर्यादा का भलीभांति पालन नहीं करता और जब अविनीतता उसमें आ जाती है तो वह शिक्षा का पात्र नहीं रह जाता।

(२) दूसरे पढ़ने लिखने वाले को नाटक, सिनेमा, तमाशा देखने की तरफ ध्यान नहीं देना चाहिए। जिसे नाटक सिनेमा देखने का शौक लग जाता है उसका ध्यान पठन-पाठन मे नहीं लगता। वह आमोद-प्रमोद को ही पसद करने लगता है। उसमें अनेक प्रकार की बुराइया आजाती हैं, अनैतिकता आ जाती है।

उसकी चित्तवृति दूषित बनी रहती है। नाटक-सिनेमा मे अकसर असभ्य और अशिष्ट वृत्तियों का प्रदर्शन किया जाता है और साधारण आदमी के चित्त पर उसका बडा बुरा प्रभाव पड़ता है। इस कारण जो उस ओर ध्यान नहीं देता, वही शिक्षा प्राप्त करता है।

(३) जो किसी के प्रति मर्मभेदी वाणी का उच्चारण नही करता, कटुक, कठोर और असत्य वचन नहीं बोलता, वह शिक्षा का पात्र होता है। अतएव ऐसे वचन मत बोलो, जिनके बोलने मे तो देर नहीं लगती, मगर जिनका समाधान करने मे महीनो लग जाते है। कोई भी बात मुख से कहने में क्या देरी लगती है? इधर जीभ चली लप और उधर पडी थप्प और फिर लोग कहने लगे—क्या लगाई है गप्प! इसलिए चाहे कोई साधु हो या श्रावक हो, सदा सावधान रहे और सोच-समझ कर ही बोले। कभी कोई बुराई हो जाय तो उसे छुपाने की चेष्टा न करे, उसके लिए खींचतान न करे, बल्कि उसी समय उसकी सफाई कर ले।

(४) शिक्षा के इच्छुक व्यक्ति में लोलुपता नहीं होनी चाहिए। जो खाने-पीने की लालसा रखता है, जो चटोरा है, जिसका दिल माल-मलीदा उड़ाने मे ही लगा रहता है, उसका चित्त शिक्षा की तरफ नहीं दौड़ता। अतएव जो लोलुपता से रहित होगा, खान-पान सबधी आसक्ति जिसमें नहीं होगी, वही शिक्षा को प्राप्त कर सकेगा।

(५) ब्रह्मचर्य-निष्ठ होना चाहिए। ब्रह्मचर्य के विषय में मैं पहले कह चुका हूँ। यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं

करने से दुनिया के किसी कोने में तेरी वाह-वाह भी हो गई और तुझे खाने को भी अच्छा मिल गया, तब भी क्या हुआ? तू विचार कर देखेगा तो पता चलेगा कि तूने कितना महंगा सौदा खरीदा है! इस नगण्य से लाभ के बदले तू अपनी महान् से महान् साधना को हार बैठा है। तू इस मार्ग को पकड़ कर विपरीत मार्ग पर चल रहा है – कल्याणपथ पर चलने को उद्यत होकर, क्षुद्र लोभ में पड़ कर अकल्याण के पथ पर चल पड़ा है। ऐसा करके तू मुक्ति में जाने के बदले नरक में जा पहुँचेगा।

भगवान् कहते हैं—जो मनुष्य पापों का उपार्जन करते हैं, वे नरक के अतिथि बनते हैं। पापी जीवों को नरक-कुण्ड में पड़ना पड़ता है, किन्तु जो दान, शील, तप और भावना भाता है, वह शरीर को त्याग कर सीधा स्वर्ग में चला जायगा।

स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति उन्हीं महात्माओं को होती है जो सदा विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं। सदा विवेक को सामने रखने पर भी कदाचित् प्रमादवश भूल हो जाती है, तो सत्यनिष्ठ और आराधक पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह तत्काल अपनी भूल के लिए आलोचना कर ले। आलोचना करने के लिए उसे अपने गुरु के समक्ष जाकर यथातथ्य बात कह देनी चाहिए। आलोचना सुनने वाले को चाहिए कि वह उसे सान्त्वना दे और उसके दोष को किसी भी दूसरे आदमी के सामने प्रकट न करे। आलोचना करने वाले से कहे—तुम भाग्यवान और आराधक हो, जो अपने अपराध को निष्कपट भाव से मेरे समक्ष प्रकट कर रहे हो। इस प्रकार प्रीतिपूर्वक आलोचना करने वाले को उचित प्रायश्चित देकर शुद्ध कर दे।

जब आपका कपड़ा किसी जगह से फट जाता है तो आप दर्जी के पास जाकर उसे ठीक करवा लेते हैं। ऐसा न किया जाय तो वह शीघ्र ही बेकाम हो जाता है। इसी प्रकार सावधानी और विवेक के साथ व्यवहार करते-करते भी दोष लग जाय तो लोक-लज्जा या बड़प्पन चले जाने के डर से उसे कभी छिपाना नहीं चाहिए। क्योंकि मानव मात्र में सहज दुर्बलताएँ होती हैं। इस कारण भूल हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। अगर भूलें न होतीं तो गुरु बनाने और साधना करने की आवश्यकता ही क्या रहती? अतएव भूल हो जाना कोई भयंकर बात नहीं है, किन्तु अपनी भूल को भूल न मानना, न स्वीकार करना और छुपाना ही भयकर बात है। अगर तुम अपनी आत्मा को निश्शल्य और पवित्र रखना चाहते हो तो जिस समय भूल हो, उसी समय प्रायश्चित्त कर लो। उसे उधार मत रक्खो। जीवन का क्या ठिकाना है? रात्रि मे भूल हुई और तुमने प्रातःकाल उसका प्रायश्चित लेना चाहा, पर बीच ही में मृत्यु हो गई तो क्या करोगे? मौत पहले सूचना देकर नहीं आती, नगाडे वजा कर नहीं आती। वह किसी भी समय अचानक आ सकती है।

जीवन एक संघर्ष है—समर है। समरभूमि मे गया हुआ योद्धा प्रत्येक पल जागृत और चौकन्ना रहता है। वह जानता है कि किसी भी समय शत्रु हमारे ऊपर हमला कर सकता है। इसी प्रकार जीवन मे भी हर समय सावधान रहना चाहिए। मौत के आक्रमण का सामना करने की तैयारी रखनी चाहिए। मौत का सामना करने को जो सदैव तैयार रहते है, वे मौत को जीत लेते है। मौत उनका कुछ भी नहीं विगाड़ सकती। आवश्यकता इसी

बात की है कि मनुष्य प्रमाद के वशीभूत न हो और अपने जीवन को पवित्र ही बनाये रक्खे।

कहने का आशय यह है कि आपसे कितनी ही भयंकर गलती क्यों न हो गई हो, योग्य गुरुजन के समक्ष प्रकट करने में लज्जित मत होओ। यदि ऐसा किया तो जैसे नाव पर चढ़ कर लोग नदी पार कर लेते हैं, उसी प्रकार आप संसार–समुद्र का पार पा लेंगे।

अपनी भूल को स्वीकार करने के लिए आत्मबल की आवश्यकता होती है। वह आत्मबल प्रायः सन्तों के समागम से प्राप्त होता है। अगर सन्त–समागम का सुयोग न हो तो स्वय यथोचित ज्ञान ध्यान में समय व्यतीत करना चाहिए और अपने जीवन व्यवहार को धर्मानुकूल और नीतिमय बनाना चाहिए। जब साधु संगति का सुअवसर मिले और साधु भी ऐसे हों जिनकी सगति करने से आत्मा को प्रगति का पथ मिलता हो तो उनकी संगति अवश्य करना चाहिए। साधु समागम करने से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। प्रथम तो अपूर्व ज्ञान सीखने को मिलता है और फिर साधक-जीवन के अनेक रहस्यमय अनुभव भी उनसे सहज ही प्राप्त किये जा सकते हैं कहा भी है:—

संगत कर ले रे साधु की,
संगत शिव–सुखदाता रे ॥

भाइयो! सन्त-समागम से आपकी आत्मा को जो सुन्दर संस्कार अनायास ही मिल सकते हैं, वे किसी दूसरे उपाय से, कठिनाई से भी मिलना दुर्लभ है। कहा भी है—

साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं, सद्यः साधुसमागमः॥

अर्थात्—साधुओं के दर्शन पुण्यरूप हैं, क्योंकि साधु तीर्थ हैं और तीर्थों का फल तो देरी से मिलता है, मगर साधुओं की संगति तत्काल फल प्रदान करती है।

अगर आप सत्संगति मे अपना समय व्यतीत करेंगे तो अनेक प्रकार की बुराइयों से बच जाएँगे और खास तौर से असत्सगति से तो बच ही जाएँगे। असत् जनों की संगति सद्गुणों का नाश करने वाली होती है, मौजूदा दोषों को बढ़ाती है और नवीन नवीन दोषों को उत्पन्न करती है। अतएव दुर्जनों से सदा बचते रहो। कहा है—

अणुरप्यसतां संगः, सद्गुणं हन्ति विस्तृतम्।
गुण-रूपान्तरं याति; तक्रयोगाद्यथा पयः॥

असत् पुरुषों का अणु के बराबर भी संयोग विशाल बड़े-बड़े गुणों को नष्ट कर डालता है। बहुत से दूध में जरा-सी भी छाछ डाल दी जाय तो उसका गुण और आकार-सभी कुछ बिगड़ जाता है। दूध का स्वाभाविक माधुर्य नष्ट हो जाता है और उसमें खट्टापन पैदा हो जाता है।

जो मनुष्य निरपराध पशुओं की गर्दन पर छुरी चला कर शिकार खेल कर या झूठ बोल कर प्रसन्न होता है और अपनी बड़ाई करते नहीं थकता, जो कहता है—आज मै ने कितनी बहादुरी के साथ शिकार किया है! देख ली हमारी चतुराई! हमने

साले की आँखों में धूल झोंक दी! ऐसे लोगों की संगति मत करो। यदि करोगे तो उसके दुर्गुण तुम्हारे अंदर आये बिना नहीं रहेंगे। कभी न कभी तुम्हें बड़ी हानि उठानी पड़ेगी और घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इसलिए भगवान् कहते हैं कि पापियों की सगति मत करो, उनके साथ अधिक सम्पर्क-घनिष्ठता मत स्थापित करो। अगर ऐसा किया तो समझ लो कि तुम अपने पतन को स्वयं आमंत्रित कर रहे हो। तुम्हारा पतन हुए बिना नहीं रहेगा। इससे बचने में ही बुद्धिमत्ता है और सत्सगति करने से सहज ही कुसगति से बच सकते हो।

कुसंगति से बचने के लिए दुराचारी स्त्रियों और पुरुषों से बचना चाहिए। लुच्चे आदमियों को अपने घर पर मत आने दो, नहीं तो वे कभी चोरी कर ले जाएँगे और तुम्हारे बाल-बच्चों के दिमाग में जहरीले विचार भर जाएँगे।

कोई मीठा बोले तो भी उसे अपना भेद मत दो। वह भेद लेकर तालियाँ पीटेगा। इसके अतिरिक्त जो चंडू, भंग चरस गांजा या शराब पीता हो, उसके पास भी मत भटको। उनकी सगति करके तुम भी पीना सीख जाओगे। कदाचित् पीना न सीखे तो भी लोगों की धारणा तुम्हारे प्रति खराब बन जायगी। तुम्हें भी लोग हीन दृष्टि से देखेंगे और कोई शिष्ट तथा इज्जतदार लोग तुमसे बात करना भी पसद नहीं करेंगे, तुम्हें घृणास्पद समझेंगे। इस प्रकार भले आदमियों की निगाह में गिर जाना क्या तुम पसद करते हो?

हम कह-कह कर थक गये। अब भी शराब पीना नहीं छोड़ोगे तो अब भारत-सरकार की ओर से डंडा पड़ेगा और

जेलखाने में सड़ोगे। अतएव जो लोग शराब का उपयोग करते हैं, उन्हें शीघ्र से शीघ्र इस सत्यानाशिनी से अपना पिण्ड छुड़ा लेना चाहिए।

इसके अनन्तर निर्ग्रन्थप्रवचन मे आवश्यक क्रिया का विधान किया गया है। जिस क्रिया का नाम ही 'आवश्यक' है, उसकी आवश्यकता बतलाने की भला क्या आवश्यकता है? आवश्यक इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोकने वाला, अपवित्र आत्मा को भी पवित्र बनाने वाला, न्यायमार्ग में प्रवृत्त करने वाला, मानव-जीवन को सार्थक करने वाला, मोक्षमार्ग को दिखाने वाला उत्तम कर्तव्य है। यद्यपि आवश्यक के छह भेद हैं, किन्तु आजकल साधारणतया उन सब को 'प्रतिक्रमण' के नाम से ही कहा जाता है प्रतिक्रमण सुबह और शाम के समय अवश्य करना चाहिए। इसमें प्रमाद मत करो। प्रतिक्रमण करते करते अगर उत्कृष्ट रसायन आ गया तो तीर्थङ्कर गोत्र भी बँध सकता है। प्रतिक्रमण करने से किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता, खाना-पीना छोड़ कर भूखों नहीं मरना पड़ता और तीर्थङ्कर गोत्र का बंध भी हो सकता है।

छह आवश्यकों में सर्वप्रथम सामायिक है समभाव की प्राप्ति जिससे हो उसे सामायिक कहते हैं। दूसरा आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव है। इसका अर्थ है—चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति करना। 'लोगस्स' का पाठ बोलने से चतुर्विंशतिस्तव हो जाता है। अरिहंत और सिद्ध भगवान् के गुणग्राम करने से भी अगर उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन हो सकता है। तीसरा आवश्यक वन्दना है। वन्दना करने वाला जीव निश्चय

ही नीच गति मे नहीं जाता। चौथा आवश्यक प्रतिक्रमण है। कदाचित् शुभ योग से गिर कर, अशुभयोग में जाकर फिर शुभ-योग मे लौट आना प्रतिक्रमण हैं। श्रावक या साधु ने जो त्याग किया है, उसमे जान बूझकर या अनजान में यदि कोई स्खलना हो गई हो तो उसके लिए 'मिच्छा मि दुक्कड' अर्थात् मेरा वह पाप निष्फल हो, इस प्रकार कह कर पश्चात्ताप किया जाता है। जैसे दिन भर कपड़ों पर धूल जमती रहती है और शाम को उन्हें साफ कर लिया जाता है तो वह मलिन कपड़ा निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार प्रतिक्रमण करने से पापों का मैल हट जाता है। अगर प्रतिदिन घर मे झाड़ू न लगाई जाय तो कूड़ा-कचरा जम जाता है और बिच्छू वगैरह पैदा हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रति-दिन प्रात काल और सायंकाल अगर प्रतिक्रमण न किया जाय तो आत्मा मे मलीनता छा जाती है। प्रतिदिन सफाई करने से कचरा जमने नहीं पाता और मकान साफ-सुथरा रहता है, इसी प्रकार प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने से आत्मा निर्मल रहता है।

पांचवां आवश्यक कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है—काय का त्याग करना। मगर काय के त्याग का मतलब आत्मघात करना नहीं है, इसका आशय है काय के व्यापार का त्याग करना और काय के ऊपर ममत्त्व न रखना। जैसे शरीर के किसी भाग में गूमड़ा हो जाने पर मरहम लगाया जाता है और ऐसा करने से गूमड़ा ठीक हो जाता है, उसी प्रकार कायिक व्या-पार को रोक कर एकाग्र भाव से ध्यान करने से पापों का नाश हो जाता है।

छठा प्रत्याख्यान आवश्यक है। आगामी काल के लिए पापों का तथा विषयों का त्याग करना प्रत्याख्यान कहलाता है।

यह छहों आवश्यक करो, कराओ और करने वाले की अनुमोदना करो। यह संसार सागर से तिरने का उपाय है। मगर एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह है कि षडावश्यक सच्चे अन्त करण से करने की आवश्यकता है। आवश्यक के पाठ बोल लेना या सुन लेना ही पर्याप्त नहीं है। हृदय में सच्ची लगन और भावना होने पर ही आवश्यक क्रिया फलदायक होती है। बार-बार जबान से 'मिच्छा मि दुक्कड' कहते रहो और बार बार वही दुष्कृत किया करो तो इससे कल्याण नहीं होगा, बल्कि ऐसा करने से कभी-कभी आत्मा में धृष्टता उत्पन्न हो जाती है। अतएव अपने दुष्कृत के लिए सच्चा पश्चात्ताप करो और आगे के लिए उस दुष्कृत का कम से कम जान-बूझकर मत सेवन करो।

संसार और संसार सम्बन्धी जितने भी दुःख हैं, उन सब का कारण विषमभाव है। अगर राग-द्वेष रूप विषमभाव नष्ट हो जाय तो किसी प्रकार का दुःख उत्पन्न न होगा। 'समभावभावियप्पा लहेइ मुक्ख न संदेहो' अर्थात् समभाव से जिसकी आत्मा भावित हो गई है, उसे निस्सन्देह मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार समभाव की बड़ी महिमा है। सामायिक का अनुष्ठान करने से समभाव की प्राप्ति होती है। अतएव भगवान् ने सामायिक नामक नौवाँ व्रत अलग ही बतलाया है। यद्यपि सामायिक का कोई निश्चित काल नहीं हो सकता, फिर भी आचार्यों ने ४८ मिनिट की उसकी काल मर्यादा कायम की है। इस मर्यादा का पालन करते हुए, सामायिक अवश्य करना चाहिए। सामायिक में अपनी भावना को बहुत प्रशस्त और शुद्ध रखना उचित है। किसी प्रकार दूषित नहीं होने देना चाहिए। सब प्रकार के

साँसारिक प्रपंचों से निवृत्त होकर अपनी आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करना, अर्हन्त देव का ध्यान करना और यह न बन सके तो आध्यात्मिक ग्रन्थों का चिन्तन-मनन स्वाध्याय करना चाहिए। मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी कमाई सामायिक ही है। कहा भी है:—

असली है यही कमाईजी, करेगा जो कोई समाईजी।
उत्तम के मन में भाईजी, मूरख के दाय न आईजी॥

अज्ञानी जीवों को सामायिक रुचिकर नहीं होती। ज्ञानी जनों को ही यह प्रिय लगती है। अतएव अगर आपके अन्तःकरण में आत्मा का सच्चा कल्याण करने की भावना उत्पन्न हुई हो तो कम से कम एक बार प्रतिदिन सामायिक करने की प्रतिज्ञा लें लो। ऐसा करने से आपका मन एकाग्र होगा, उसमें समताभाव आएगा और गीता के शब्दों में आप समत्वयोग की साधना में अग्रसर हो सकेंगे। समतायोग मे सफलता मिलना अपने लिए अनन्त मंगल का द्वार खोल लेना है। जिसकी आत्मा समता के अपूर्व रस में मग्न हो जाती है, उसके लिए समस्त विश्व में आनन्द ही आनन्द फैल जाता है। आप सामायिक का आचरण करेंगे तो आनन्द ही आनन्द होगा।

ता० १६-६-४८

उत्थान का पथ

स्तुतिः—

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति,
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तो,
पद्मानि तत्र विबुधा परिकल्पयन्ति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? भगवन् ! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ ?

जब ऋषभदेव भगवान् इस जगतीतल पर विचरते थे, तब जहाँ कहीं वे अपने चरणारविंद रखते थे, वहाँ देवगण सोने

के विकसित और अतीव सुन्दर पुष्पों की रचना करते थे। कहा जा सकता है कि स्वर्ण-कमल भगवान् के चरणों में चुभते होंगे! मगर नहीं, सोने का कलावत्तू क्या पैर में चुभता है? देव-रचित वह स्वर्ण-कमल अनोखे ही होते हैं और साथ ही इतने कोमल, जैसे सरोवर में से तत्काल लाए हुए हों।

यह अतिशय, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, सभी तीर्थङ्करों का होता है। यह तीर्थंकर भगवान् के द्वारा पूर्वोपार्जित परमोत्तम पुण्यरूप तीर्थंकर गोत्र कर्म का फल है। भगवान् इस फल की कामना नहीं करते, इससे प्रसन्नता का अनुभव भी नहीं करते, फिर भी पुण्योदय के फलस्वरूप देवता अतिशय निर्माण करके अपनी भक्ति का परिचय देते हैं। ऐसे अतिशय सम्पन्न भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयो! पुण्य और पुण्य के फल की कामना सभी संसारी जीवों को होती है। लेकिन पाप से बचकर पुण्य का उपार्जन करने के लिए जिस मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है और जिस कर्त्तव्य की अपेक्षा रहती है, उसकी ओर कितने लोग ध्यान देते हैं? कल्पवृक्ष कौन नहीं चाहेगा? मगर कल्पवृक्ष या उसके फलों की कामना से प्रेरित होकर जो बंबूल बोता है, उसे क्या कहा जाय? बंबूल बोने से कल्पवृक्ष के फलों की प्राप्ति होना संभव नहीं है, इसी प्रकार पापमय आचरण करके पुण्य फल की आशा रखना भी दुराशा मात्र है।

भगवान् तीर्थंकर जन्म-जन्मान्तर के प्रकृष्ट पुण्य को साथ लेकर अवतरित होते हैं। सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली में क्या अन्तर होता है? दोनों के आध्यात्मिक विकास में और

केवलज्ञान मे कुछ भी अन्तर नहीं होता, किन्तु चौतीस अतिशयों और पैंतीस वाणी के अतिशयों की प्राप्ति सामान्य केवली को नहीं होती। दोनों मे जो अन्तर है वह पुण्य प्रकृति का ही अन्तर है। पुण्य का फल अलग है, पाप का फल अलग है और धर्म का फल भी अलग है। पाप का वन्ध होने में कोई कठिनाई नहीं होती किन्तु फल भोगते समय नानी याद आ जाती है। अनेक सागरोपमों तक नारकी जीव नरक में जो घोर से घोर यातनाएं भुगतते हैं वह पाप-कर्मों का ही वन्ध है। उस पाप कर्म को उन्होंने हसते-खेलते, मजा-मौज करते हुए बाँधा होगा, मगर जब वह उदय मे आता है तो रोम-रोम वेदना का अनुभव करता है। इससे विपरीत पुण्य कर्म बांधने मे कुछ कठिनाई होती है, कुछ त्याग करना पड़ता है, मगर उसका फल मधुर और साताकारी होता है। सागरोपमों पर्यन्त देवलोक के देव जो आनन्दोपभोग करते हैं, वह पुण्य का ही फल है। ऐसा समझ कर विवेकशील पुरुष पाप से बचने और पुण्य का आचरण करने मे सावधान रहते हैं।

मनुष्य अगर जागृत रहे तो अनायास ही पाप से बच सकता है। मन में तनिक भी बुरे विचार आये और पाप कर्म का बन्ध हो गया। अगर सावधान रह कर बुरे विचारों को खदेड़ दिया तो पाप से बचाव हो गया। जीव की छोटी से छोटी क्रिया भी पाप-पुण्य के बन्ध का कारण बन जाती है।

भगवान् फरमाते हैं कि तुम्हारे सामने से दो रास्ते जाते हैं। उनमे एक रास्ता पतन का है और दूसरा उत्थान का। अगर उत्थान के मार्ग पर चलोगे तो सर्वोत्कृष्ट देव विमान—सर्वार्थसिद्ध

में पहुंच जाओगे और फिर एक भव करके मुक्ति प्राप्त कर लोगे। पतन के रास्ते पर चलने से नरक और निगोद में जाना पड़ता है।

पतन और उत्थान का मार्ग कौन-सा है ? यों तो इसकी व्याख्या बहुत विस्तृत हो सकती है, परन्तु संक्षेप में यह समझना चाहिए—'मैं कुछ नहीं हूँ' यह उत्थान का मार्ग है और 'मैं ही सब कुछ हूँ, जो हूँ मै ही हूँ' यह पतन का मार्ग है।

जो मनुष्य अपने जीवन को ऊँचा उठाना चाहता है—उत्थान के पथ पर अग्रसर होना चाहता है, वह विनम्र बनेगा, अपनी त्रुटियों की ओर ही नजर रक्खेगा और उन्हें दूर करता जायगा। अगर कोई उसकी बड़ाई करेगा, मान-सन्मान देगा तो उसे स्वीकार करने में उसे संकोच होगा, लज्जा का अनुभव करेगा और उसके मुख से यही निकलेगा—मैं नगण्य हूँ, मैं योग्य नहीं हूँ, अभी तक मुझमें अनेक प्रकार की दुर्बलताएँ मौजूद हैं। इस प्रकार वह विनम्र व्यक्ति अपनी अयोग्यता का प्रकाशन करेगा, मगर उसका अपनी अयोग्यता का प्रकाशन करना ही उसकी योग्यता का प्रमाण समझा जायगा। लोग उसकी प्रशंसा किये बिना न रहेंगे। वह सच्चे अन्तःकरण से अपनी प्रशंसा के अनुरूप ही बनने के लिए उद्योगशील रहेगा।

इसके विपरीत जो गरूर से भरा हुआ है और अपने आगे किसी भी दूसरे को कुछ नहीं समझता, जो अपने को योग्य और दुनिया को अयोग्य समझता है, समझ लो वह पतन के पथ का पथिक है। जब वह कहता है—मैं योग्य हूँ और तुम किसी योग्य नहीं हो, तो सुनने वाले समझ लेते हैं कि अपने मुंह अपनी तारीफ करने वाला यह व्यक्ति वास्तव मे अयोग्य है।

सक्षेप में यों समझो कि जहाँ 'अहम्' भाव है-अभिमान है, वहाँ पतन है और जहाँ अहंकार विलीन हुआ वहां उत्थान का मगल-मार्ग खुला।

अभिमान का भाव मनुष्य को उत्थान से किस प्रकार रोकता है, यह समझने के लिए बाहुबलीजी का उदाहरण बहुत उपयुक्त है। बाहुबली स्वामी की तपस्या कितनी उग्र थी ? साधु बनते ही बिना-हिले-डुले चित्र के समान खड़े हो गये और ध्यान मे मग्न हो गये। भरतजी पर विजय प्राप्त करके भी राज्य को रज-कण के समान तुच्छ समझ कर ठुकरा कर चल दिये। ऐसे महान् त्यागी और तपस्वी महात्मा होते हुए भी जब तक उनके अन्तः-करण के किसी कोने मे अहंकार का अंश बना रहा उन्हे केवल ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ। जब उनकी बहिनों ने उन्हे सावधान किया और अभिमान के हाथी पर से उतरने की प्रेरणा की और जब वे जागृत हुए और अभिमान चला गया तो उसी समय उन्हें केवल-ज्ञान की अलौकिक ज्योति प्राप्त हो गई।

ससार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, अगर आप उनकी जीवनी के मर्म को पहचानेगे तो विदित होगा कि उनमें अभिमान नहीं था। उदाहरण के लिए आचार्य मानतु ग को ही लीजिए। उन्होंने कितनी सुन्दर रचना की है ? भक्तामर स्तोत्र कितना भाव-पूर्ण काव्य है ? भक्ति की तन्मयता उसमे कूट-कूट कर भरी है। उसकी पदावली भी बड़ी मनोहर और प्रसादमयी है इससे उसके रचयिता की विद्वत्ता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। फिर भी वे अपने विषय मे क्या कहते हैं ? वे कहते हैं—मैं अबोध हूँ, मेरा बनाया हुआ काव्य विद्वानों के लिये हँसी के

योग्य है, मै बालचेष्टा कर रहा हूँ, मै अल्पज्ञ हूँ, यह स्तवन रच कर मै हास्यास्पद ठहरू गा। इस प्रकार आचार्य महाराज अपनी लघुता प्रदर्शित करते हैं, मगर सच पूछो तो इस लघुता-प्रदर्शन के कारण उनकी महत्ता और अधिक बढ़ जाती है। कितना उच्च कोटि का काव्य उन्होंने लिखा है! उसकी महिमा नहीं कही जा सकती।

भाइयो! अगर आपके अन्दर भी इस प्रकार की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जायगी तो आप भी ऊँचे चढ़ोगे। और यदि मैं मैं करते रहोगे तो जानते हो बकरे की क्या हालत होती है? मैना कहती है-मैं ना, मैं ना, तो कितना प्रेम से उसका पालन-पोषण किया जाता है? अतएव अगर मुक्ति चाहते हो और निरजन पद को पाने की अभिलाषा करते हो तो इस 'अह' को छोड़ दो। जब 'मै' निकल जायगा तो 'तू' ही 'तू' रह जायगा। जहाँ 'मै' है वहाँ 'तू' नहीं और जहाँ 'तू' है वहां मैं नहीं। 'मै' और 'तू' का द्वित्व ही बिगाड़ कर रहा है। तू ही तू ही में तन्मय हो जाने पर ही निरजन पद प्राप्त होता है। हे आत्मन्! अगर तुझे मोक्ष पाना है तो यह भाव निकाल दे कि मैं ही हूँ, इसके बदले यह भाव ला कि मै कुछ नहीं हूँ। नम्रभाव ही मोक्ष का साधन है। आगम में भी कहा है—

धम्मस्स मूलं विणओ।

अर्थात्—धर्म का मूल आधार विनय है। तुलसीदासजी कहते है—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

अभिमान् पाप का मूल है। अभिमान उन्नति और प्रगति के पथ का एक जबर्दस्त रोड़ा है। अभिमान् मनुष्य को अन्धा बना देता है। जो अभिमान से अन्धा बन जाता है उसे अपने अवगुण और दूसरे के सद्गुण नहीं दिखाई देते। अभिमानी मनुष्य उचित अनुचित का भेद भूल जाता है। विनय को नष्ट करने वाला अभिमान ही है। अतएव अपना कल्याण चाहते हो तो अभिमान का त्याग करो। बड़ों-बूढ़ों का आदर करो। माता, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, गुरु महाराज आदि बड़ों की आज्ञा का पालन करो। अपनी अक्ल की साइकिल पर ही सवार मत होओ। गुरुजन जो कहें, उसे ध्यानपूर्वक सुनो, समझो और मानो। कदाचित् कोई बात तुम्हें उचित न प्रतीत होती हो तो नम्रता के साथ उनके सामने अपना विचार प्रस्तुत करो। उनकी अवज्ञा करने का संकल्प भी मन मे मत उठने दो! जो कुछ कहना हो, अवसर देख कर विनम्र भाव से कह सकते हो। मगर अपनी और उनकी पद-मर्यादा को मत भूलो।

बहिनो! तुम भी ध्यान रक्खो। अपनी सास के साथ तुम्हारा गहरा सम्पर्क रहना है। अगर अपने जीवन को शान्ति-मय रखना चाहती हो तो सासू के प्रति नम्रतापूर्ण ही व्यवहार करने की आदत डालो। तुम कह सकती हो कि क्या लाभ होगा? मै कहता हूँ—इससे बहुत और बड़े-बड़े लाभ हैं। दूसरी बातों को जाने भी दें तो एक लाभ तो प्रत्यक्ष ही है। देखो सासू का विनय करोगी तो सासू तुम्हें अपना धन सौंप देगी, नहीं तो चुपके-चुपके अपनी बेटियों को दे देगी। धर्म में नम्रता धारण करने से मोक्ष मिलता है और संसार व्यवहार मे नम्रता धारण करने से जीवन मे कष्ट नहीं होता है। रेलवे की मुसाफिरी में

नम्रता दिखलाने से जगह मिल जाती है। अकड़ने वालों को धक्के खाने पड़ते हैं, उनका सामान फैंक दिया जाता है।

रावण का सत्यानाश क्यों हुआ? सच पूछो तो उसके अहंकार ने उसका सर्वनाश कर डाला। वह समझता था, दुनिया में कोई मेरा मुकाबिला नहीं कर सकता। अतएव अनेक हितैषियों के समझाने बुझाने पर भी उसकी अक्ल ठिकाने नहीं आई। उसकी अकड़ से परेशान होकर उसके भाई विभीषण को भी राम के साथ मिल जाना पड़ा। परिणाम यह आया कि रावण का राज्य ही नहीं गया, प्राण भी चले गये।

और दुर्योधन का भी स्मरण करो। वह समझ बैठा था कि मेरे हाथ में हस्तिनापुर की सत्ता आ गई है तो कौन मेरा बाल बांका कर सकता है? पाण्डवों की तरफ से स्वयं कृष्णजी दूत बन कर गये। उन्होंने सिर्फ पांच गांवों की मांग की। कहा— पाण्डवों का राज्य पर अधिकार है, मगर मैं पांच गांव देकर ही उन्हें मना लूंगा। पर दुर्योधन अहंकार में चूर था। उसने इतनी सी मांग भी स्वीकार नहीं की। अन्त में कौरव-कुल का सर्वनाश हुआ और वह स्वयं मारा गया।

यह इतिहास तुम्हें क्या शिक्षा देते हैं? अपना भला चाहते हो तो इन उदाहरणों से कुछ सबक सीखो। अभिमान पतन की ओर ले जाने वाला घोर शत्रु है। वह विनाश का स्रष्टा है। उसके चगुल से अपनी रक्षा करो—अपने आपको बचाओ। निरहंकार वृत्ति अभ्युदय की सीढ़ी है। ज्यों-ज्यों नम्रता धारण करोगे, ऊँचे उठोगे। शास्त्रों का कथन है कि नम्रता धारण करने

से उच्च गोत्र का बंध होता है और अहंकार करने से नीच गोत्र कर्म बंधता है।

अभिमान का असर इतना व्यापक है कि संसार के प्रपंचों का त्याग कर देने वाले साधुओं के हृदय में भी वह उत्पन्न हो जाता है। तब साधु सोचने लगता है—मेरे गुरुजी तो मुझसे भी कम पढ़े हैं! मेरी विद्वत्ता के सामने दूसरा कौन टिक सकता है? देखो, इस गये-बीते समय में भी मैं कितनी तपस्या करता हूँ। दूसरे साधु तो अन्न के कीड़े हैं! या मेरा चारित्र कितना ऊँचा है! मैं मलिन और जर्जरित वस्त्र धारण करता हूँ, अतएव कितना विरक्त हूँ और दूसरे साधु दुग्ध-धवल वस्त्र धारण करते हैं। मेरा प्रभाव कितना उग्र है कि बड़े-बड़े सेठ-साहूकार भी मेरे चरणों मे मस्तक झुकाते है। इतनी भीड़ मेरा उपदेश सुनने को इकट्ठी होती है। इत्यादि रूप से साधु के चित्त में जब अहंकार उत्पन्न होता है तब उसका तप-त्याग मलिन हो जाता है। वह मोक्षसाधक न होकर कषायपोषक बन जाता है। साधु को ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिए। उसे महान् त्यागियों और तपस्वियों एवं ज्ञानियों का स्मरण करके अहंकार से बचना चाहिए। उसे समझना चाहिए कि मुझे लोग वन्दन करते हैं सो वास्तव में मुझे नहीं, साधु के वेष और चारित्र को वन्दना करते हैं। आत्मा का असली स्वभाव केवलज्ञान है। वह स्वरूप मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। केवलज्ञान की तुलना में मेरी विद्या-बुद्धि कितनी तुच्छ है, नगण्य है। इस पर मैं क्या अभिमान करूँ? अभी मुझे मन प्राप्त करना है और कण भी प्राप्त नहीं हुआ है! इस प्रकार का विचार करके उत्पन्न हुए अभिमान को तत्काल दूर कर देना चाहिए। समझना चाहिए कि

अगर अभिमान बना रहा तो मेरी सारी आराधना और साधना व्यर्थ हो जायगी। विनय करूँगा नम्रता रक्खूंगा तो तिर जाऊँगा।

जिसे योग्य बनना हो वह अहंकार से बचता रहे। बड़ों को बड़ा समझता रहे। गुरु की सेवा करे और गुरु सेवा में जो समय लगता है, उसे सार्थक समझे। उसके लिए अपने को भाग्यवान् माने। सोचे कि आज मेरे बड़ा पुण्य उदय में आया है कि गुरु महाराज की सेवा करने का सुअवसर मेरे हाथ आ गया।

भगवान् फरमाते हैं—हे साधो! तुम गुरु महाराज की निगाह से छिप कर मत बैठो। न्यारी मंडली मत जोड़ो और उनकी सम्मति लिये बिना कोई काम मत करो। हाँ, अगर ससार मे ही भ्रमण करना है तो तुम्हारी मर्जी! फिर चाहो सो करो। गुरु की अवज्ञा करने से कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

विनयवान् व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी होता है। जिसमें विनय हो वह विनीत कहलाता है। जो अपने हितैषी बड़ों-बूढ़ों की, ज्ञानदाता गुरुओं की एवं हितचिन्तक स्वधर्मी जनों की आज्ञा का यथायोग्य पालन करता है, जो उनकी सेवा करने में अपना अहोभाग्य मानता है और आँख के इशारे से एवं उनकी मुखाकृति से ही उनके मनोभावों को जान कर यथोचित वर्ताव करता है, वह विनयवान् कहलाता है। जो इससे विरुद्ध व्यवहार करता है अर्थात् गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन करता है और यथोचित सेवा-सुश्रूषा नहीं करता बल्कि उनका तिरस्कार करता है, वह अविनीत कहलाता है।

कदाचित् गुरु शिक्षा करें कि इतनी देर क्यों लगाई? उस तरफ क्यों गये? आदि तो उनके इस प्रकार कहने पर क्रोध नहीं

करना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि गुरुजी मेरी चिन्ता करते हैं तभी तो मुझे उपालंभ दे रहे हैं। अगर वे मेरा हित न चाहते होते, मेरी भलाई की उन्हें चिन्ता न होती तो क्यों मेरी ओर ध्यान देते ? गुरुजी अपनी एकाग्र साधना में विघ्न सहन करके भी मेरे उद्धार का खयाल रखते हैं, यह नका मुझ पर महान् उपकार है। इस उपकार का बदला मैं किस प्रकार चुका सकता हूँ ? इस प्रकार सोच कर गुरुजी की ताड़ना को अपने लिए आशीर्वाद समझना विनीत शिष्य का कर्त्तव्य है।

विनीत पुरुष को चाहिए कि वह क्षुद्र पुरुषों की संगति न करे और न हँसी मजाक करे। नीतिकार कहते हैं—

हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।

अर्थात्—हीन जनों के संसर्ग से बुद्धि हीन हो जाती है। संगति का प्रभाव पड़े बिना रहता नहीं। अतएव जिसे हीन और क्षुद्र नहीं बनना है उसे ऐसे लोगों के ससर्ग से दूर ही रहना चाहिए। इसी प्रकार हँसी मजाक करने से बोलने-चालने की मर्यादा का भान नहीं रहता और स्वाध्याय ध्यान आदि आवश्यक कार्यों में विघ्न होता है। सर्वसाधारण में लघुता होती है। अतएव हँसी ठट्ठा करना भी उचित नहीं है।

गुरु से कोई बात पूछनी हो तो बड़े आदर के साथ और विनय के साथ पूछनी चाहिए। अपने आसन पर बैठे-बैठे या लेटे लेटे पूछना शिष्टता एवं मर्यादा से प्रतिकूल है। कोई कितना ही ज्ञानवान् क्यों न हो जाय किन्तु जब तक उसमें विनीत-भाव नहीं आता, उसका ज्ञान व्यर्थ है। कहावत है—

'पढ़-पढ़ पोथा रह गया थोथा' अर्थात पढ़—लिख कर कोई शास्त्री या बी. ए. एम. ए भले ही हो गया हो, मगर अपने मां-बाप को कुछ भी न समझे तो समझ लो कि उसकी विद्या निष्फल है। कोई कितना ही ज्ञानी क्यों न हो जाय गुरुजनों के विनय का त्याग कभी नहीं करना चाहिए। शिष्य को कोई प्रश्न पूछना हो, शंका का समाधान करना हो तो वह गुरु के समीप आवे, दोनों हाथ जोड़कर और मस्तक को झुका कर प्रश्न करे। भगवान् फरमाते हैं कि हे मुनि! अगर तुझे लायक बनना है तो यही कर। यह शिक्षा जैसे लौकिक है उसी प्रकार पारलौकिक भी है। विनयवान् पुरुष इस लोक में भी सुखी होता है और परलोक मे भी सुखी होता है। अतएव प्रसन्न चित्त से विनय करने में ही अपना अहोभाग्य समझना चाहिए। साधारण पामर पुरुष तो किस गिनती में है, राम और कृष्ण जैसे ऊँची श्रेणी के महापुरुष भी प्रतिदिन प्रात.काल माता-पिता के चरणों में मस्तक झुकाया करते थे।

प्रातःकाल उठिय रघुनाथा,
मात-पिता गुरु नावहिं माथा ॥

भाइयो! अवतार माने जाने वाले पुरुष भी जब माता-पिता को प्रणाम किया करते थे तो क्या आप राम और कृष्ण से भी बड़े हो? आज लोग प्रायः ऐसे अविनीत हो गये हैं कि वे माता-पिता की आसातना करने में हिचकिचाहट नहीं करते और उन्हें किसी योग्य ही नहीं समझते! जरा शास्त्रों को खोलकर देखोगे तो पता चलेगा कि तीर्थंकर मल्लिनाथजी महाराज रोज राजा कुंभ के चरणों में सिर झुकाया करते थे। मगर सिर कौन

झुकाएगा ? जिसमें गुरुता होगी, महत्ता होगी और साथ ही जो अपने को कुछ नहीं समझेगा। जो अपने को कुछ नहीं समझेगा, वही सब कुछ समझा जायगा और जो अपने आपको सब कुछ समझेगा, वह कुछ भी नहीं समझा जायगा ! वह अपने को भले बड़ा समझो परन्तु लोग उसे तुच्छ समझेंगे।

पूज्य उदयसागरजी महाराज कितने नम्र थे ? वे सम्प्रदाय के आचार्य थे, मगर किसी साधु को आते देखते तो पाट से नीचे उतर कर प्रेमपूर्वक कहते थे—'पधारो !' उनकी इस प्रकार की नम्रता देखकर कौन नहीं उनके सामने नम्र हो जाता ? किसका अभिमान गलकर पानी-पानी न हो जाता ? इसीलिए तो वे बाईस ही सम्प्रदाय में पूज्य कहलाए और आज भी अत्यन्त आदर के साथ उनके नाम का स्मरण किया जाता है ! उनके जीवनकाल में बड़े-बड़े साधु और दूसरे लोग उनका दर्शन करने आया करते थे और दर्शन करके अपने जीवन को सफल हुआ समझते थे।

भाइयो ! विनय जातिसम्पन्नता और कुलसम्पन्नता का लक्षण है। जिसकी जाति और जिसका कुल उत्तम और सुसंस्कारों से सम्पन्न होगा, उसमें सहज ही विनयभाव उत्पन्न हो जायगा। यहां जाति का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नहीं है और न ओसवाल, अग्रवाल, परवार आदि ही है। शास्त्रों में इस प्रकार के जातिवाद को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। जाति का अर्थ है—माता का पक्ष। जिसका मातृपक्ष शुद्ध होगा, सुसंस्कृत होगा और धार्मिक होगा, उसकी सन्तति भी नम्र होगी और वही जातिसम्पन्न कहलाएगा। वही त्याग-प्रत्याख्यान लेकर भलीभांति निभाएगा।

कुल का अर्थ है पितृपक्ष। जिसका पिता शुद्ध होगा, अच्छे संस्कारों से युक्त होगा, उसका पुत्र धर्म की जो बात पकड़ेगा उसे पार लगाएगा। राजा हरिश्चन्द्र ने चाण्डाल की जघन्य चाकरी करना स्वीकार किया किन्तु अपने धर्म को नहीं छोड़ा! इस प्रकार की कुलीनता जिसमें होती है, वह विनयवान् होता है।

भगवान् से प्रश्न किया गया है-भद्रिक और विनीत प्रकृति वाला शरीर को त्याग कर कहाँ उत्पन्न होता है? जो व्यक्ति अपने साथ किये गये कपट को समझता तो है—जानता है कि यह चाल कर रहा है, किन्तु उसका प्रतीकार करने के लिए स्वयं कपट नहीं करता, वह भद्रिक या भद्रपरिणामी कहलाता है। भद्रिक और विनीत पुरुष शरीर त्याग कर स्वर्ग और अपवर्ग के भाजन बनते हैं।

अविनीत पुरुष को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। विनीत गुरुजी की कठोर शब्दों द्वारा दी हुई शिक्षा को भी अपने लिए कल्याणकारी मानता है और अविनीत मधुर और मृदुल शब्दों में दी हुई शिक्षा को भी अहितकारी समझता है। वह मानता है कि गुरुजी मुझ पर द्वेष रखते हैं और सब के सामने मेरी बेइज्जती करते हैं! जिसमें विनय की वृत्ति नहीं है उसे गुरुजी कदाचित् कठोर शिक्षा दे दे तो वह कहने लगता है-ज्यादा करोगे तो मैं आपके पास नहीं रहूँगा! ओघा और पात्रा संभला कर चल दूंगा! ऐसे बोलने वाले अकड़नाथ! तू गुरुजी का क्या बिगाड़ लेगा? चला जायगा तो आप ही अपना अहित करेगा! तेरा कर्त्तव्य ही तुझे गिरा देगा। इस प्रकार मूर्ख और अविनीत शिक्षा को उलटी लेता है और क्रोध करता है। मगर

ज्ञानी जीव कहते हैं कि सुनो, विचारो और अज्ञता मत करो। नहीं तो सिद्धि नहीं मिलेगी। सोना आग में जब तपाया जाता है तभी शुद्ध होता है।

भगवान् ने फर्माया है कि बात-बात में क्रोध करने वाला, शान्त हुए क्लेश को या नवीन क्लेश को जगाने वाला, कठोर हृदय वाला, अभिमान में चूर रहने वाला, मित्रभाव रखने वाले पर भी शत्रुभाव रखने वाला, किसी से सीधी तरह बात न करने वाला, स्वार्थ होने पर मीठी-मीठी बातें बनाने वाला और स्वार्थ-सिद्ध हो जाने पर सीधे मुंह बात भी न करने वाला और गुरु महाराज से कदाचित् कोई भूल हो जाय तो टीका-टिप्पणी करने वाला—आप खुद तो ऐसा करते हैं और दूसरों को रोकते हैं, इस प्रकार उद्दंडतापूर्वक आक्षेप करने वाला, दूसरों के समक्ष गुरु की निन्दा करने वाला, जैसा मन में आवे वैसा बोलने वाला और प्रयोजन से अधिक बोलने वाला अपनी आत्मा का पतन करता है। जो दूसरों के प्रति द्रोह की भावना रखता है, खान-पान में जो लोलुप है लोलुपता के वशीभूत होकर उत्तम स्वादिष्ट भोजन के लिए गृहस्थों के घर चक्कर काटता फिरता है, जो इन्द्रियों का गुलाम है और ज्ञान-ध्यान छोड़ कर निन्दा-विकथा में अपना समय व्यतीत करता है, जो पेटू है, अच्छा भोजन लेकर आप ही चुपके-चुपके खा जाता है और गुरु को पता ही नहीं चलने देता और कदाचित् पता लग जाने पर, पूछने पर अनजान सा बन कर मिथ्या भाषण करता है, वह अविनीत है। वह किसी भी जाति और किसी भी कुल का हो, उसका कल्याण नहीं हो सकता।

ऐसा स्वार्थी, लोलुप, अहंकारी, निन्दक और मिथ्याभाषी मनुष्य अगर गृहस्थ है तो भी उसका कल्याण नहीं हो सकता। वह कुटुम्ब में शांति के साथ नहीं रह सकता। उसके कुटुम्ब में विसंवाद खड़ा होगा और अशांति का तूफान आये बिना नहीं रहेगा। कुटुम्ब मे अनेक व्यक्ति होते हैं और उनका रहन सहन और खान-पान प्रायः साथ साथ ही है। ऐसी स्थिति में कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य होता है कि वह उदारभाव से वर्ताव करे, सब को समान समझे, यह नहीं कि आप तो बढ़िया खावे और बढ़िया पहने और दूसरों की कोई परवाह ही न करे। जब एक व्यक्ति ऐसा करेगा तो दूसरों में भी यही स्वार्थभावना उत्पन्न हो जायगी और परिणाम यह होगा कि कुटुम्ब, कुटुम्ब न रह कर झगड़े की झोंपड़ी बन जायगा और पारस्परिक क्लेश खड़ा हो जायगा। आदर्श कुटुम्ब वह है जिसका प्रत्येक सदस्य स्वयं त्याग करके दूसरों को खिलाता-पिलाता और पहनाता है, स्वयं कष्ट एवं असुविधा भोग कर दूसरों को सुख और सुविधा पहुंचाता है। ऐसा परिवार सुख शांति का आगार बनता है।

यही बात मुनियों के लिए और भी अधिक लागू होती है। मुनि तप, त्याग को अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य मान कर साधना के लिए निकला है। अगर वह इन्द्रियों का गुलाम बन जाय, स्वार्थी हो जाय और पूर्वोक्त अवगुणों का भंडार हो जाय तो वह साधुता से ही हाथ धो बैठता है और सघ में भी क्लेश को उत्पन्न करता है। ऐसा मुनि कदापि मुक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता।

गृहस्थों में कोई-कोई ऐसे पेटू होते हैं जो दुकान पर ही दोने चाट जाते हैं। वे न तो बच्चों को और न स्त्री को खिलाते हैं।

परिणाम यह होता है कि उनकी स्त्रियां भी चुपके-चुपके दोनें चाटने लगती हैं। ऐसे लोग अपने घर की मर्यादा को भ्रष्ट करने वाले हैं। यह अब अविनीत आत्मा के लक्षण हैं। अविनीत जीव चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष, चौरासी में ही चक्कर काटेगा, उसे अक्षय और अनन्त सुख-स्वरूप मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं होगा।

मोक्ष में जाने की इच्छा किसे नहीं होती? संसार के अनन्त दुःखों से सभी छुटकारा पाना चाहते हैं। सभी जन्म मरण के चक्र से छूट कर अजर-अमर अविनाशी एव मृत्युञ्जय बनना चाहते है। मगर मोक्ष के लिए जिस साधना की आवश्यकता है, वह साधना कितने लोग करते हैं? मोक्ष प्राप्त करने के लिए जिन सद्‌गुणों को प्राप्त करना अनिवार्य है, उसकी ओर कितने लोगों का ध्यान जाता है? वास्तव में मोक्ष जाने के योग्य कौन है, इस विषय में भगवान् ने फर्माया है कि जिसमें पन्द्रह बातें पाई जाती हैं, वही केवलज्ञान प्राप्त कर सकेगा और वही मुक्ति का अधिकारी होगा।

मुक्ति की साधना के लिए पहली आवश्यक बात है, गुरुजनों के प्रति नम्रभाव रखना। उनसे नीचे आसन पर बैठना, यह नहीं कि गुरुजी बैठे नीचे पाटे पर और चेलाजी जा चढ़े ऊँचे पाटे पर। ऐसा करने वाला क्या जल्दी मोक्ष में चला जायगा? नाक कितनी ही ऊँची क्यों न हो, ललाट से तो नीची ही रहेगी। इसी प्रकार चेला कितना ही बड़ा क्यों न हो जाय, गुरु से तो नीचा ही रहेगा। वह तपस्वी है, त्यागी है, यह ठीक है, फिर भी वह गुरु से ऊंचा नहीं हो गया है। अतएव विनीत एव मुमुक्षु शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह गुरु के आसन से नीचे आसन पर

ही बैठे। इसके अतिरिक्त चपलता न करे, कपट न करे और खेल-तमाशे देखने की तरफ प्रवृत्ति न रक्खे। साधु के लिए नाटक आदि देखने की सर्वथा मनाई है, मगर गृहस्थ भी अगर रोज-रोज सिनेमा देखने जाता है और उसी ओर अपनी चित्तवृत्ति रखता है तो उसका चित्त ईश्वर मे नहीं लगेगा और फिर उसे ईश्वर नहीं मिलेगा, यमदूत मिलेंगे।

गुरुजनों का तिरस्कार न करे, झगड़ा फसाद न करे और कम से कम अपने ऊपर उपकार करने वाले का अपकार न करे और श्रुतज्ञान उत्तम पाकर भी अभिमान न करे। ज्ञान का फल निरभिमानता है, अभिमानी होना नहीं। जिसने श्रुतज्ञान प्राप्त किया है, वह ज्ञान की असीमता को भलीभांति समझ लेता है। वह जानता है कि श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक निर्मल केवलज्ञान है। उसकी तुलना में मेरा अधिक से अधिक ज्ञान भी नगण्य है। फिर अभिमान किस बिरते पर किया जाय?

गुरु महाराज कोई बात कहें तो उसे उलटी पकड़ कर न बैठे रहे और कोई आदमी दुर्गुणी हो तो भी पीठ पीछे उसकी निन्दा न करे, जबान से कलह न करे और काय से युद्ध-लड़ाई न करे, आंखों में लज्जा रक्खे और अपनी इन्द्रियों को सदा संयम में रक्खे, ऐसा करने वाला भव्य शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है।

भगवान् कहते हैं—गौतम! जैसे मंत्रों द्वारा अभिषेक की हुई अग्नि को अग्निहोत्री ब्राह्मण नमस्कार करता है, उसमें घी की आहुति देता है सब प्रकार से उसका सन्मान करता है, उसी प्रकार शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह कितना ही उत्कृष्ट ज्ञानवान् और संयमवान् क्यों न हो, अपने गुरु का आदर-सत्कार करे।

गुरु की सेवा-भक्ति का कभी त्याग न करे। गुरु महाराज किसी काम को करने से नाराज हो तो विनयवान् शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह भविष्य मे उस काम को न करने का अपना संकल्प उनके सामने प्रकट करे और उससे बचते रहने का ही प्रयत्न करे। शिष्य को कहना चाहिए-भगवन्! इस वार क्षमा कीजिए, आगे यह काम नहीं करूँगा और जैसी आपकी आज्ञा होगी, वैसा ही करूंगा। कदाचित् प्रतीति न रही हो तो प्रामाणिक व्यवहार करके प्रतीति जमानी चाहिए। जो शिष्य इस प्रकार विनयमय व्यवहार करेगा, उस पर गुरु सन्तुष्ट रहेंगे, और गुरु के सन्तोष एव प्रसाद से उसका परम कल्याण होगा। वह इस संसार में भी प्रतिष्ठा और प्रशसा का पात्र वनेगा और उसके शिष्य भी उसका आदर-सन्मान करना सीखेगे।

विनीत शिष्य स्वयं साता में रहता है और गुरु महाराज को भी साता उपजाता है। वह विनय के द्वारा अपने पापों का क्षय कर डालता है और स्वय निष्पाप बन कर दूसरों के लिए आदर्श हो जाता है। अगर उसके कर्मों का पूरी तरह क्षय हो जायगा तो उसे मुक्ति मिलेगी। कर्म शेप रह जाएँगे तो वह उच्च देवगति में उत्पन्न होगा। वहाँ से चव कर फिर मनुष्य गति मे जन्म लेकर, जगत्पूजित होकर सिद्ध, बुद्ध हो जायगा। वह हाड़ मांस एव चमड़ी से बने हुए तथा मल-मूत्र आदि के थैले के समान शरीर से सदा के लिए छुटकारा पा जायगा।

शिष्य ने प्रश्न किया—प्रभो! अगर सिद्ध, बुद्ध, जीव शरीर से मुक्त हो जाते हैं तो फिर वे कहां रहते हैं? भगवान् ने उत्तर दिया-गौतम! वह स्थान लोक का अग्र भाग है।

भगवान् के उत्तर का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि लोक के अग्रभाग पर पहुंच जाने का अर्थ मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष किसी स्थान का नाम नहीं है और न किसी स्थान पर पहुंच जाने से मोक्ष मिलता ही है। मोक्ष का अर्थ है-छुटकारा पाना। आत्मा की समस्त वैभाविक परिणतियों का अन्त आ जाना, समस्त कर्मों का आत्मा से विलग हो जाना, समस्त उपाधियों का अत्यन्त विनाश हो जाना मोक्ष है। मोक्ष वास्तव में आत्मा की अत्यन्त विशुद्ध अवस्था है।

आत्मा जब अपने स्वरूप में पूर्णतया परिणत हो जाता है, तब उसकी ऊर्ध्वगति होती है। ऊर्ध्व गति करना आत्मा का स्वभाव है। जैसे अग्नि की ज्वाला स्वभावतः ऊपर की ओर ही जाती है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा भी स्वभावतः ऊपर की ओर ही गति करती है। आत्मा की इस ऊर्ध्वगति में धर्मास्तिकाय निमित्त कारण होता है। जहाँ तक निमित्त कारण का योग मिलता है वहाँ तक आत्मा ऊपर की ओर सीधा गमन करती रहती है। धर्मास्तिकाय का योग लोकाकाश पर्यन्त ही मिलता है, उससे आगे अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय नहीं होता, इसी कारण आत्मा लोकाकाश के अग्रभाग तक ही जाता है, आगे नहीं जाता। अतएव यह सत्य है कि मुक्त जीव लोकाकाश के अग्रभाग पर विराजमान रहते हैं, मगर यह समझना भ्रमपूर्ण है कि लोकाकाश के अग्रभाग को मोक्ष कहते हैं। अगर लोकाकाश के अग्रभाग पर पहुँच जाना ही मोक्ष होता तो उस जगह पर रहे हुए निगोद के जीव भी मुक्तात्मा कहलाने लगते। मगर ऐसा नहीं है। मुक्ति आत्मा की ही विशुद्धतम अवस्था है।

जो सिद्ध जीव लोक के अग्रभाग पर पहुंच गया है, उस का जन्म-मरण नहीं होता, उसे शारीरिक व्याधि नहीं होती, मानसिक आधि नहीं होती, कोई कामना नहीं रहती। वह परमात्मा नित्य निरंजन, निराकार, निष्पाप, निस्ताप, अनन्त आत्मानन्द में अवगाहन करता हुआ लोक-अलोक को केवल-ज्ञान से अवलोकन करता हुआ, किन्तु किसी भी भाव में लिप्त न होता हुआ रहता है। इसी अवस्था को निर्वाण कहते हैं। यही आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है।

अन्य मत वालों का कथन है कि निर्वाण शून्य रूप है, अर्थात् जैसे दीपक जलता-जलता बुझ जाता है, उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व ही गायब हो जाना मोक्ष है। कोई कहते हैं—मोक्ष मे आत्मा का अस्तित्व तो बना रहता है किन्तु आत्मा ज्ञान और सुख से सर्वथा शून्य हो जाता है। इस प्रकार की मान्यताएं भ्रमपूर्ण हैं। हमने पहले ही बतलाया था कि सत् वस्तु का कभी विनाश नहीं हो सकता। आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, यह किसी द्रव्य का पर्याय नहीं है, अतएव उसका विनाश होना सम्भव नहीं है। अगर मोक्ष का मतलब आत्मा का शून्य हो जाना हो तो कौन समझदार मनुष्य के लिए कष्टकर साधना करने को तैयार होता? अपने अस्तित्व को गंवा देना किसे पसन्द आएगा? इसी प्रकार अगर मोक्ष में ज्ञान और सुख का सद्भाव नहीं रहता तो घोर अज्ञान और एकान्त दुःख का सद्भाव मानना पड़ेगा। फिर ससार में प्राप्त होने वाले थोड़े से सुख को भी गंवा कर मोक्ष के लिए कौन प्रयत्न करेगा? और बुद्धिमान् अपने आपको जड़—ज्ञानशून्य बनाना चाहेगा? अतएव यह कल्पनाए गलत हैं। वास्तव में आत्मा के ऊपर जो मलिनता

चढ़ी हुई है, पर-संयोग से आत्मा में जो विभाव परिणति हो रही है उसका सर्वथा दूर हो जाना ही मोक्ष है। आत्मा का जो स्वभाव स्वाभाविक है, उसका प्रकट हो जाना ही मोक्ष है। आत्मा स्वभाव से सुख स्वरूप है और ज्ञानमयी है, मगर कर्मों के संसर्ग के कारण यह गुण विकृत हो रहे हैं, इस विकार का दूर हो जाना और आत्मा के गुणों का अपने असली रूप में व्यक्त हो जाना ही मोक्ष है। यही सर्वज्ञ और वीतराग देव का फर्मान है और यही बात हमारी सहज बुद्धि में आने योग्य है।

इस प्रकार जहां अबाध बोध है, असीम सुख है, जहां जन्म और मरण से सदा के लिए छुटकारा है, जो पद शिव स्वरूप है, मगलमय है, जहॉ से फिर लौट कर नहीं आना पड़ता, वही मोक्ष है।

मोक्ष को सिद्धि कहते हैं, क्योंकि संसार के समस्त मुमुक्षु मुक्ति के लिए ही साधना करते हैं और मुक्ति साधना का अतिम फल है। मुक्ति प्राप्त हो जाने के पश्चात् फिर कुछ भी साध्य नहीं रहता। मोक्ष-अवस्था मे किसी प्रकार का उपद्रव नहीं रहता अतएव उसे शिव भी कहते हैं। सब प्रकार की बाधाओं से रहित होने के कारण उसे अव्याबाध भी कहते हैं। इस तरह मोक्ष के अनेक गुणनिष्पन्न नाम हैं।

भगवान् ने मोक्ष के चार कारण बतलाये हैं—(१) सम्यग्-ज्ञान अर्थात् सच्चाज्ञान—आत्मा—अनात्मा का विवेक (२) सम्यग्-दर्शन अर्थात् शुद्ध श्रद्धा (३) सम्यक्चारित्र—संयममय प्रवृत्ति और आत्मा में रमण और (४) तप अर्थात् अनशन आदि बाह्य तपस्या और स्वाध्याय, ध्यान आदि आभ्यन्तर तपस्या।

ज्ञान प्राप्त होने पर जीव को पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, सुख-दुःख का वास्तविक ज्ञान होता है। साथ ही सम्यग्दर्शन से उन पर यथार्थ और प्रगाढ़ श्रद्धा होती है। जब ज्ञान और श्रद्धा में समीचीनता आ जाती है तो दोनों के फलस्वरूप सम्यक्चारित्र का विकास होता है। चारित्र में परायण होकर मुमुक्षु जीव नवीन पापों के आगमन को रोक देता है और तपस्या के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर डालता है, इस प्रकार सर्वथा निष्कर्म अवस्था प्राप्त हो जाती है। जीव ज्यों-ज्यों चारित्र का पालन करने में अग्रसर होता चला जाता है, उसके राग-द्वेष पतले पड़ते जाते हैं और ज्यों-ज्यों राग-द्वेष कम होता जाता है त्यों-त्यों आत्मा में निराकुलता जन्य शान्ति बढ़ती चली जाती है। फिर वह शुक्ल-ध्यान को प्रारम्भ कर देता है और राग-द्वेष का पूरी तरह नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। चार घातिया कर्मों का क्षय होने पर आत्मा केवलीज्ञान अनन्तदर्शनी, अनन्त सुखमय और अनन्त शक्तिसम्पन्न बन जाता है। तब वह लोक और अलोक को साक्षात् देखने लगता है। और फिर शेष चार अघातिया कर्मों को भी नष्ट करके अविनाशी पद पर पहुंच जाता है।

कई लोगों का खयाल है कि मुक्त जीव फिर संसार में लौट आते हैं। मगर उनका खयाल सही नहीं है। संसार में आने का अर्थ फिर जन्म-मरण के चक्कर में पड़ना है। मगर ऐसा कोई कारण ही नहीं है, जिससे वे जन्म मरण करें। जन्म मरण का निमित्त कारण आयुकर्म है और आयुकर्म से मुक्तात्मा सर्वथा रहित हो गये हैं। फिर वे संसार में किस प्रकार अवतरित हो सकते हैं। कहा भी है—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न प्ररोहति भवाङ्कुरः ॥

बीज से अंकुर उत्पन्न तो होता है किन्तु जब बीज को पूरी तरह जला दिया जाता है तो उससे अंकुर नहीं उत्पन्न हो सकता, इसी प्रकार जन्म-मरण रूपी अंकुर का बीज कर्म है। जब वह पूरी तरह जल जाता है तो उससे भव-अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता।

भड़भूंजा भाड़ में चना भूनता है। उन भुने चनों को अगर खेत में बो दिया जाय तो क्या वे उग सकते हैं ? इसी प्रकार कर्मों को भस्म कर देने के बाद फिर जन्म-मरण का काम नहीं रहता।

कुछ लोग कहते हैं कि अगर मोक्ष गये जीव वापिस संसार में लौटकर नहीं आते तो संसार कभी न कभी खाली हो जायगा ! मगर ऐसी बात नहीं है। जीव अनादि काल से मोक्ष में जा रहे हैं, अगर ससार खाली हो सकता होता तो कभी का खाली हो गया होता। अब तक एक भी जीव यहाँ न बचता। मगर ऐसा नहीं हुआ और इसी से सिद्ध होता है कि संसार कभी खाली नहीं हो सकता। संसार के खाली होने का प्रसंग उन लोगों के मत में आता है, जो जीवों की संख्या परिमित मानते हैं। भगवान् ने जीवों की अनन्त सख्या बतलाई है और जो वस्तु अनन्त है, उसका अन्त कैसे आ सकता है ?

इस विषय में काल का भी उदाहरण दिया जाता है। काल के तीन भेद हैं—भूतकाल वर्त्तमानकाल और भविष्यत्काल। भविष्यत्काल क्षण-क्षण (समय-समय) करके वर्त्तमानकाल के

रूप में परिणत हो रहा है और वर्त्तमानकाल, भूतकाल बनता जा रहा है। भूतकाल फिर कभी लौटकर नहीं आता और भविष्यकाल घटता जा रहा है। ऐसी स्थिति में भविष्यत् काल की समाप्ति हो जानी चाहिए। और जब भविष्यत्काल समाप्त हो जायगा तो वर्त्तमानकाल भी नहीं रहेगा ? अब विचारणीय यह है कि क्या कभी ऐसा होना संभव है ? क्या कोई काल ऐसा आयगा जब कालद्रव्य ही न रहे ! इस प्रकार जब काल का कभी अन्त नहीं आ सकता तो अनन्त संसारी जीवों का अन्त किस प्रकार आ सकता है ?

जिस गति से जीव लौटकर आता है वह दूसरी कोई गति हो सकती है, मोक्षगति वह नहीं है। मोक्ष नित्य और शाश्वत है।

मोक्ष में अशरीर अवस्था है। वहाँ न स्थूल शरीर है और न सूक्ष्म शरीर ही है। जब शरीर नहीं है तो इन्द्रियां भी नहीं हैं। इन्द्रियां के अभाव में मुक्तात्मा को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? सुन्दर शब्दों के सुनने से, मनोहर रूप को देखने से, सुगंध सूंघने से, मधुर रसों का आस्वादन करने से और मनोज्ञ स्पर्श से जीवों को सुख की प्राप्ति होती है। यदि मुक्ति जीव यह सब नहीं करते तो उन्हें क्या सुख मिलता होगा।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि संसारी जीव जिसे सुख कहते हैं, वह वास्तव मे सुख नहीं है। वह सुखाभास है—सुख सरीखा मालूम होता है किन्तु सचमुच सुख नहीं है। वह सुखाभास, आत्मा के स्वाभाविक सुख नामक गुण का विकार है। संसारी जीवों को असली सुख प्राप्त नहीं होता, सुख का विकार ही प्राप्त होता है। अतएव उन्हें असली आध्यात्मिक सुख की

कल्पना ही नहीं है। इसी कारण यह आशंका उठी है कि खान-पान आदि के अभाव में सुख कैसे मिल सकता है? पर उस आत्मानन्द को समझाया भी कैसे जाय? जिसे वह सुख प्राप्त है, वह आपके और हमारे सामने कहने नहीं आता और जो उस सुख के संबंध में कहना चाहता है उसे वह सुख प्राप्त नहीं है। अरिहन्त भगवान् जब इस भव्य भूतल पर साक्षात् विराजमान थे, तब वे उस अनन्त आत्मानन्द का अनुभव करते हुए भी उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते थे। वास्तव में सुख अनुभूति का विषय है, वाणी का विषय नहीं है।

मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ। आप कभी मिठाई लड्डू खाते हैं, कभी जलेबी खाते हैं और कभी गुलाबजामुन खाते हैं। इन सब के स्वाद को आप पहचानते हैं और सब को खाकर विभिन्न प्रकार के आनन्द का अनुभव करते हैं लेकिन आप यह बतलाइए कि लड्डू, जलेबी और गुलाबजामुन की मिठास में क्या अन्तर है? जिस अन्तर को आपकी जीभ साक्षात् अनुभव करती है, उस अन्तर को आप जीभ के द्वारा ही कहकर बतलाइए! आप लाख प्रयत्न करके भी जिह्वा के उस अनुभव को जिह्वा द्वारा नहीं कह सकते।

थोड़ा और आगे चलिए। इन मिठाइयों को खाने से आपने भिन्न-भिन्न प्रकार का आनन्द प्राप्त किया है। उस आनन्द में क्या अन्तर था, वह कह कर समझा सकते हैं? नहीं।

जब जीभ का अनुभव भी जीभ नहीं बतला सकती तो फिर आत्मा के अनुभव को जीभ किस प्रकार बतलाने में समर्थ हो

सकती है ? जो सुख इन्द्रियों से अगोचर है, मन से परे है, उसे वाणी के द्वारा कहने और कान के द्वारा सुनने की आशा क्यों रखते हो ?

भाइयो ! आध्यात्मिक सुख अनिर्वचनीय है, इन्द्रियाँ, वाणी और मन उसके समीप भी नहीं फटक सकते। फिर मैं आपको उस सुख का स्वरूप कह कर कैसे बतलाऊँ ? भाषा जड़ है और वह स्थूल भावों को ही प्रकाशित करने में समर्थ होती है। वह अनुभवगम्य विषयों में प्रवेश नहीं कर सकती। अनुभवगम्य विषयों को समझने के लिए साधना की आवश्यकता है। बिना साधना किये मर्म समझ में नहीं आएगा।

इस विषय में एक प्रश्न किया जा सकता है। वह यह कि सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है, यह कथन कैसे माना जाय ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए यह सोचना पड़ेगा कि सुख अगर आत्मा का गुण नहीं है तो फिर किसका गुण है ? संसार में मूलभूत पदार्थ दो ही हैं—जड़ और चेतन। सुख की सत्ता में तो किसी को विवाद ही नहीं है, उसका थोड़ा-बहुत अनुभव सभी को होता है। ऐसी स्थिति में या तो वह जड़ का गुण होना चाहिए या चेतन का! अगर आप थोड़ा-सा ही विचार करेंगे तो स्पष्ट मालूम होने लगेगा कि सुख जड़ का गुण नहीं है। जड़ पदार्थों मे सुख का सद्भाव नहीं है। अतएव वह आत्मा का ही गुण हो सकता है। जड़ पदार्थों का उपयोग करके आखिर तो आत्मा ही सुख का अनुभव करता है।

आत्मा में सुख नामक सहज गुण विद्यमान है। पर पदार्थों के संयोग से वह विकृत हो रहा है। फिर भी उसका

सर्वथा अभाव नहीं होता। अतः किंचित् सुख का अनुभव सभी प्राणियों को होता है। धीरे-धीरे जब वह शुद्ध रूप में आ जाता है तो अनन्त और असीम बन जाता है। उसे पर पदार्थों के संयोग की आवश्यकता नहीं रहती। वही मुक्तात्माओं का सुख है और उसी सुख की प्राप्ति के लिए विवेकशील पुरुष संसार के बड़े से बड़े सुख को, राजपाट, वैभव आदि को त्याग कर भिक्षुक जीवन अंगीकार करते हैं। उस सुख की उपमा देने के लिए संसार में कोई वस्तु नजर नहीं आती।

भाइयो! इस नश्वर, पराश्रित और पाप के कारणभूत सुख को जब त्याग दोगे तभी उस सुख की असली झांकी दिखाई देगी। इसे त्यागे बिना उसे नहीं पा सकते। यहाँ दोनों हाथ लड्डू की कहावत चरितार्थ नहीं कर सकते।

पहले बतलाया जा चुका है कि सिद्धिक्षेत्र में आत्मा अशरीर होकर रहता है। आत्मा स्वभावतः रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित, अमूर्तिक चैतन्यमय वस्तु है। उसे न कोई रोक सकता है और न वह किसी को रोक सकती है। एक दूसरे को रोकने का गुण पुद्गल में ही पाया जाता है। मगर पुद्गल भी जो सूक्ष्म होते हैं, वे भी दूसरे पुद्गल की गति-आगति में रुकावट नहीं डालते। कमरे में बिजली या दीपक का जो प्रकाश व्याप्त रहता है, वह किसी दूसरे को कमरे में घुसने से नहीं रोकता। इस प्रकार जब रूपी पुद्गल भी किसी की गति-आगति में बाधक नहीं होते तो सर्वथा रूपातीत आत्मा रूपातीत आत्मा की गति-आगति में किस प्रकार बाधक हो सकता है? यही कारण है कि सिद्धिक्षेत्र में जहाँ एक आत्मा है

वहाँ अनन्त आत्माएँ हैं। वे सब अपने-अपने स्वरूप में विराजमान हैं। जैसे एक ही कमरे में सैकड़ों दीपकों का प्रकाश समाविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सिद्धात्मा भी अनन्त है, फिर भी किसी प्रकार की संकड़ाई नहीं है।

भाइयो! यह निर्ग्रन्थप्रवचन के अठारहवें अध्याय का संक्षिप्त सार है। समय की न्यूनता के कारण अनेक विषयों की चर्चा रह भी गई है या संक्षेप में आई है। यह निर्ग्रन्थप्रवचन मैं ने नहीं बनाया है। यह लोकोत्तर ज्ञानी भगवान् अरिहन्त के वचन हैं। अनादि काल से सभी तीर्थङ्कर भगवान् ऐसे ही वचन सुनाते आये हैं। उन्हीं वचनों का सकलन करके मैं आपको अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार सुना रहा हूँ। सुनाने में कोई न्यूनाधिकता हो गई हो तो श्रीसंघ की साक्षी में मैं मिच्छा मि दुक्कड़ं देता हूँ।

अगर आपको कल्याण करने की जल्दी न हो तो दो-चार बार और चौरासी का चक्कर काट आओ। फिर कल्याण कर लेना। अगर चक्कर काटते-काटते उकता गये होओ और जल्दी ही कल्याण करना हो तो फिर आज ही उत्थान के मार्ग पर आ जाओ। लाखों मनुष्यों के पूजनीय बन जाओगे सो तो अलग ही, आत्मा को भी अक्षय सुख में स्थापित कर सकोगे। उस स्थिति में आपको आनन्द ही आनन्द होगा।

ता० १७-६-४८

धर्मोपदेश

स्तुतिः—

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्ट—
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याम् ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व—
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? भगवन् ! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ ?

महाप्रभो ! भव्य जीवों के असीम पुण्य के उदय से और आपके तीर्थङ्कर नाम कर्म के उदय से, समवसरण में स्थित होने

पर आपकी दिव्यध्वनि खिरती है। वह दिव्यध्वनि स्वर्ग और मोक्ष के कारण रूप सद्धर्म का तत्त्व–यथार्थ स्वरूप-निरूपण करने में ऐसी कुशल है कि किसी दूसरे की ध्वनि उसकी समानता नहीं कर सकती। आपकी वाणी तीनों लोकों में अनुपम है। आपकी वाणी समस्त पदार्थों का निर्मल स्वरूप प्रकट करने वाली है और समस्त भाषाओं के रूप में परिणत हो जाती है। देवाधिदेव! आपकी वाणी सुनने के लिए बारह प्रकार की परिषद् एकत्र होती थी। उसमे देव भी होते थे, मनुष्य भी होते थे और पशु भी होते थे। पर आपके उपदेश की भाषा की यह विशेषता थी कि वह सभी श्रोताओं के लिए अपनी-अपनी भाषा ही जान पड़ती थी। समस्त प्रकार के श्रोता यही समझते थे कि भगवान् हमारी बोली ही बोल रहे हैं। कोई भी श्रोता, चाहे वह देव हो या तिर्यंच, यह नहीं कह सकता था कि भगवान् की वाणी मेरी समझ में नहीं आई। ऐसे लोकोत्तर अतिशय से सम्पन्न भगवान् ऋषभदेवजी को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

तीर्थंकर भगवान् केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् धर्म का उपदेश करते हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति मोहनीय कर्म का क्षय होने के पश्चात् होती है। जब मोहनीयकर्म नहीं रहता तो उसके उदय से होने वाली सब कामनाएँ भी नहीं होतीं। फिर भी भगवान् निष्काम भाव से धर्मोपदेश करते हैं। इसका मुख्य कारण तीर्थंकर नामकर्म है। पूर्वोपार्जित परमप्रकृष्ट तीर्थंकर नामकर्म का क्षय धर्मोपदेश देने से होता है। अतएव कामनाहीन होने पर भी भगवान् उपदेश करते हैं। भव्य जीवों का पुण्य-प्रकर्ष भी उपदेश का कारण होता है।

स्तुति में आचार्य महाराज ने बतलाया है कि भगवान् की वाणी मोक्ष का मार्ग बतलाने में अनुपम सामर्थ्य रखती है। वास्तव में संसार में किसी भी अन्य पुरुष की वाणी तीर्थंकर भगवान् की वाणी की समानता नहीं कर सकती। भगवान् की वाणी मे पैंतीस विशेषताएँ होती हैं, जिन्हें अतिशय कहते हैं। वह अतिशय इस प्रकार हैं—

(१) तीर्थंकर की वाणी भाषाशास्त्र और व्याकरण-शास्त्र के लिहाज से निर्दोष होती है, यह उसका संस्कारत्व अतिशय है।

(२) स्वर उदात्त अर्थात् ऊँचा होता है।

(३) उस वाणी में ग्राम्यता का दोष नहीं होता

(४) मेघ की भांति गम्भीर होती है।

(५) प्रतिध्वनि से मुक्त होती है।

(६) भाषा में सरलता होती है।

(७) स्वर में ऐसी विशेषता होती है कि श्रोताओं के दिल में व्याख्येय विषय के प्रति बहुमान के भाव उत्पन्न होते हैं।

(८) शब्द थोड़े और अर्थ महान् होता है।

(९) पूर्वापर विरोध नहीं होता अर्थात् परस्पर विरोधी बात नहीं होती।

(१०) पूर्ण शिष्टता होती है।

(११) वस्तु का स्पष्ट कथन करते हैं, जिससे सुनने वाले को संदेह न रहे।

(१२) वचन निर्दोष होते हैं, जिससे शंका-समाधान का अवसर नहीं आता।

(१३) श्रोता के चित्त को आकर्षित कर लेती है।

(१४) भगवान् देश काल के अनुरूप कथन करते हैं।

(१५) वस्तु के वास्तविक स्वरूप के अनुसार ही उसकी व्याख्या करते हैं।

(१६) असंबद्ध कथन नहीं करते और यथायोग्य विस्तार से प्ररूपणा करते हैं।

(१७) पद और वाक्य परस्पर सापेक्ष होते हैं।

(१८) भूमिका के अनुसार ही विषय का प्रतिपादन करते हैं।

(१९) जैसे भूखे आदमी को घी-शक्कर आदि उत्तम पदार्थ सुखकारी लगते हैं, उसी प्रकार भगवान् की वाणी श्रोताओं को अत्यन्त सुखदायिनी प्रतीत होती है।

(२०) दूसरे का मर्म भेदन करने वाली नहीं होती।

(२१) वह वाणी मोक्ष का एवं श्रुत-चारित्र रूप धर्म का प्रतिपादन करती है।

(२२) उसमें शब्द और अर्थ की विशिष्ट रचना होती है।

(२३) उस वाणी में पराई निन्दा और अपनी प्रशंसा नहीं होती।

(२४) उसमें श्लाघ्यता होती है—पूर्वोक्त गुणों के कारण वह प्रशंसनीय होती है।

(२५) कारक, काल, लिंग, वचन आदि की विपरीतता से रहित होती है।

(२६) श्रोताओं के चित्त में वक्ता के लिए उत्सुकता बनी रहती है।

(२७) वचन अश्रुतपूर्व होने के कारण श्रोताओं को विस्मय होता है।

(२८) भगवान् रुक-रुक कर नहीं, धाराप्रवाह भाषण करते हैं।

(२९) वह विभ्रम, विक्षेप आदि दोषों से रहित होती है।

(३०) भगवान् की वाणी विविध वस्तुओं का निरूपण करती है, अतएव उसमें एक प्रकार का वैचित्र्य होता है।

(३१) उस वाणी को सुनने से श्रोताओं को विशिष्ट बोध प्राप्त होता है।

(३२) वाणी साकार होती है—वर्ण, पद और वाक्य अलग-अलग होते हैं।

(३३) भगवान् की वाणी बड़ी ही ओजस्वी और प्रभाव शालिनी होती है।

(३४) भगवान् उपदेश देते-देते थकावट का अनुभव नहीं करते।

(३५) जिस तत्त्व का प्रतिपादन करना आरम्भ किया है, जब तक वह भलीभांति सिद्ध न हो जाय तब तक बिना व्यवधान के उसका व्याख्यान करते हैं।

भला जिसकी वाणी में इतनी विशेषताएँ हों, उसकी वाणी कल्याणी न हो, अनुपम न हो और संसार का उद्धार करने वाली

न हो, यह कैसे संभव हो सकता है ? फिर भगवान् की वाणी की विशेषताएँ इतनी ही नहीं हैं, और भी विशेषताएँ उस वाणी में पाई जाती हैं। भगवान् का स्वर एक योजन की दूरी तक सुनाई देता है, और सभी श्रोताओं के लिए वह हितकारी, सुखकारी और कल्याणकारी प्रतीत होती है।

इस सब विशेषताओं से भी बड़ी विशेषता उस वाणी की यह है कि वह परिपूर्ण ज्ञान-पूर्वक बोली जाती है। वह समस्त पदार्थों को साक्षात् देख कर और जान कर उच्चारण की हुई होती है।

वक्ता की भावना कितनी ही पवित्र क्यों न हो, अगर उसे यथार्थ ज्ञान न होगा तो उसकी वाणी भ्रमजनक हो सकती है; वह श्रोताओं को गलत राह पर भी ले जा सकती है। भगवान् की वाणी मे यह बात नहीं है। भगवान् केवलज्ञान उत्पन्न होने के अनन्तर ही धर्मोपदेश करते हैं अतएव सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का उन्हें भलीभांति बोध होता है। इस कारण उनका उपदेश सत्य से अविरुद्ध, युक्तियों से अबाधित, प्रमाण के अनुकूल और सत्य-मार्ग का प्रदर्शक होता है। भगवान् ऋषभदेव की वाणी ऐसी ही अनुपम थी और जैसी एक तीर्थंकर की वाणी होती है वैसी ही समस्त तीर्थंकरों की वाणी होती है। ज्ञानियों के उपदेश में भिन्नता हो ही नहीं सकती।

भगवान् की भाषा की जो विशेषताएँ बतलाई गई है उन्हें ध्यानपूर्वक समझा जाय तो पता चलेगा कि वक्ता कैसा होना चाहिए ? वक्ता के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह जिस विषय पर व्याख्यान करना चाहे, उस विषय का बारीक से

बारीक ज्ञान प्राप्त कर ले। उस विषय की पूरी जानकारी किये विना भाषण करने से स्वहित और परहित का घात होता है।

दूसरी बात यह है कि उपदेश देना, धर्म कथा सुनाना या दूसरों को धर्म-मार्ग बतलाना हो तो उपदेशक की भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसे पढ़े लिखे अनपढ़े और, कम पढ़े हुए सभी समझ सकें। बालक हो, जवान हो, या बूढ़ा हो, स्त्री हो या पुरुष हो, सब की समझ में उपदेश आना चाहिए। तभी सच्चा उपयोगी व्याख्यान होता है। अगर वक्ता अपनी पंडिताई दिखलाने के लिए लच्छेदार भाषा बोले और श्रोता उसकी भाषा को समझ न सकें तो वह व्याख्यान किस काम का? उस व्याख्यान को सुनकर साधारण लोग यही कहेंगे कि अपना धंधा छोड़कर और जरुरी कामों की उपेक्षा करके व्याख्यान सुनने गये थे; पर वहां जाना वृथा हुआ, कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा! अतएव धर्म कथा की भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सब की समझ में आ सके!

उपदेश करने वाले में बहुत जरूरी बात होनी चाहिए-समभावना। उसके लिए राजा और रंक, धनी और निर्धन, नर और नारी समान होने चाहिए। वह सब को समान भाव से उपदेश दे। यह नहीं कि धनवानों के सामने अच्छी-अच्छी और मीठी-मीठी बातें कहे और निर्धनों को डाट-फटकार बतलावे! भगवान् फरमाते हैं:—

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥

—श्रीमदाचारांगसूत्र।

राजा-महाराजा और बड़े-बड़े आदमी व्याख्यान में आवें तो उनको भी वही मार्ग बतलाना चाहिए और गरीबों को भी वह मार्ग दर्शाना चाहिए। जो राजा को और तथा गरीब को और उपदेश देता है, वह विषमभावी वक्ता है और उसका उपदेश कल्याणकारी नहीं हो सकता। उपदेशक के लिए यह भी उचित नहीं कि बड़े-बड़े नगरों में तो वह स्वय उपदेश देने बैठ जाय और छोटे गाँव में जाकर अपने चेलों को कह दे कि इन लोगों को कुछ सुना दे! साधु का भाव सब पर समान होना चाहिए।

तीर्थङ्कर भगवान् ने बारह प्रकार की तपस्या बतलाई है। उसमें स्वाध्याय नामक तप भी है। स्वाध्याय के पाँच भेद है—वाचना, पृच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा, और धर्मोपदेश। शास्त्र मे स्वाध्याय का फल बतलाया है:—

सज्झाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?
सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

—उत्तराध्ययन, अ. २९

भगवान् से गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवान्! स्वाध्याय से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? तब भगवान् उत्तर देते हैं—स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म को खपाता है।

इसी प्रकार स्वाध्याय के पाँचों भेदों का फल दिखलाते हुए धर्मकथा या धर्मोपदेश का फल बतलाते हुए भगवान् फर्माते हैं—

'धम्मकहाएणं जीवे निज्जरं जणयइ। धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ। पवयणपभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ ॥

—श्री उत्तराध्ययन, २६ अ.

अर्थात्—धर्म का उपदेश करने से जीव पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करता है। धर्म का उपदेश करने से प्रवचन की प्रभावना करता है और प्रवचन की प्रभावना से भद्र कर्मों का बंध करता है।

इस कथन से स्पष्ट है कि धर्मोपदेश करना आत्म कल्याण के लिए भी बहुत उपयोगी साधन है। अतएव शास्त्रों का पठन करना, जहाँ समझ में न आवे वहाँ पूछना, बार-बार अर्थ का चिन्तन करना और भलीभाँति समझे हुए ज्ञान से धर्मोपदेश करके प्रवचन की प्रभावना करना आवश्यक है।

भाइयो! शास्त्रों में अनुत्तर और अनुपम ज्ञान निहित है। शास्त्रों को सीखो और जो समझ न सको उसके विषय में प्रश्न करो, उस पर चर्चा करो। मुनिराज हों तो कहो—'महाराज! यह बात मेरी समझ में नहीं आई है। कृपा करके समझा दीजिए।' इस प्रकार पूछने से भी सात-आठ कर्मों की निर्जरा होती है। परन्तु पूछना चाहिए विनयपूर्वक। अविनय से कर्म बँधते हैं और विनय से कर्म टूटते हैं।

प्रश्न करके जो उत्तर प्राप्त किया हो उस पर भलीभाँति मनन करना चाहिए। मनन करने से भी कर्म नष्ट होते हैं। सीखे हुए ज्ञान की बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए। बार-बार आवृत्ति

करते रहने से ज्ञान स्थिर हो जाता है और विकसित होता है। उसमें नवीनता आती रहती है।

सेना के सिपाहियों को प्रतिदिन कवायद करवाई जाती है। उसका उद्देश्य यही होता है कि उनका अभ्यास छूट न जाय और मौका पड़ने पर चूक न हो जाय। अभी तो समझ लें और कह दें कि हम तो जानते हैं, परन्तु अवसर आने पर हें हें-हें करना पड़े तो कितनी बुरी बात होगी? दुनिया में कहावत प्रसिद्ध है—

पान सड़े घोड़ा अड़े, विद्या विसर जाय।
ताती फिर रोटी जले, कह चेला कुण न्याय?

गुरुजी ने जब यह प्रश्न किया तो चेला सब का एक ही उत्तर देता है—गुरुजी, फेरी नहीं। तंबोली पान को फेरे नहीं और ज्यों का त्यों पड़ा रहने दे तो पान सड़ जाता है।

बिगड्यो पान बिगाड़े टोली,
बिगड्यो साधु बिगाड़े टोली।

बिगड़ा हुआ एक पान सब को बिगाड़ देता है और बिगड़ा हुआ एक साधु सब साधुओं को बिगाड़ देता है।

घोड़ा को हमेशा घुड़शाल में बँधा रक्खोगे तो वह भी समय पर अड़ेगा। विद्या का भी यही हाल होता है। विद्या त्रिपक्षी कहलाती है। तीन पखवाड़ों या डेढ़ महीने में सीखे हुए ज्ञान की आवृत्ति कर लेनी चाहिए नहीं तो वह विस्मृत हो जाती है।

इसी प्रकार सेंकते समय रोटी अगर फेरा न जाय तो वह जल कर राख हो जायगी।

कई भाई प्रतिक्रमण याद कर लेते हैं, लेकिन फिर उसे फेरते नहीं है और इस कारण भूल जाते हैं। फिर कहते हैं—महाराज, हम तो पाटियाँ भूल गये! अतएव पर्यटन-पुनरावृत्ति-करना चाहिए। इससे भी कर्मों की निर्जरा होती है। धर्मोपदेश करते-करते अगर उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो तीर्थङ्कर गोत्र भी बँध जाता है। अतएव क्या नगर और क्या ग्राम, सब जगह समान भाव से धर्मोपदेश करना चाहिए। अगर गांव के असंस्कारी लोग सुसंस्कारी बन जाएँगे, हिंसा करना शराब पीना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि दुष्कर्म छोड़ देंगे तो तुम निहाल हो जाओगे! हे साधु! पड़े–पड़े क्या करोगे? आलस्य मत करो और उपदेश दो। एक जीव भी अगर सही रास्ते पर लग गया तो उसका भी कल्याण होगा और तुम्हारा भी कल्याण होगा। कदाचित् किसी ने भी तुम्हारा उपदेश न माना तो भी तुम्हारा तो कल्याण होगा ही। धर्मोपदेश के द्वारा होने वाली निर्जरा तो तुम्हें होगी ही। तुम्हें तो हर हालत में लाभ ही लाभ है। कहा भी है:—

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या, वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥

अर्थात्—हितकारी उपदेश सुनने वाले प्रत्येक श्रोता को धर्म होगा ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। अगर वह उस उपदेश को विनयपूर्वक श्रवण करके आचरण में लाएगा तो उसको

कल्याण होगा, नहीं तो कल्याण नहीं होगा, किन्तु अनुकम्पा बुद्धि से–श्रोताओं के कल्याण की भावना से उपदेश देने वाले वक्ता को तो एकान्त रूप से धर्म होता ही है। मतलब यह है कि अगर कोई भी श्रोता उपदेश को न माने तो भी उपदेशक को कोई हानि नहीं होती, बल्कि निर्जरा का लाभ ही होता है।

इस कथन से यह भी ध्वनित होता है कि वक्ता को श्रोताओं के कल्याण की भावना से अपने कर्मों की निर्जरा के हेतु ही उपदेश देना चाहिए। इहलोक सम्बन्धी कामनाओं से प्रेरित होकर धर्मोपदेश देना उचित नहीं है। मुझे लोग अच्छा-अच्छा आहार दें, उत्तम-उत्तम वस्त्र दें, मेरी प्रशसा हो, प्रतिष्ठा हो और मेरी वक्तृत्व कला या विद्वत्ता की लोगों मे धाक जम जाय, दूसरे साधु मुझसे हीन समझे जाएँ और मैं उत्तम समझा जाऊँ, इत्यादि भावनाएं इहलोक सम्बन्धी भावनाए हैं। इसी प्रकार परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होने की इच्छा से भी धर्मोपदेश करना उचित नहीं है। शास्त्र मे कहा है:—

> नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।

—श्री दशवैकालिक सूत्र, अ० ६ उ० ४

अर्थात्—इस लोक के लाभ के लिए तप न करे, परलोक सम्बन्धी लाभ के लिए तप न करे, कीर्त्ति,* वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए भी तप न करे, सिवाय निर्जरा के और किसी भी प्रयोजन से तप न करे।

जैसा कि अभी-अभी कहा जा चुका है, धर्मोपदेश भी स्वाध्याय नामक आन्तरिक तप ही है, अतएव तप के सम्बन्ध में भगवान् ने जो नियम यहां बतलाये हैं, वे धर्मोपदेश के संबंध में भी लागू होते हैं।

वक्ता को पूरी तरह निर्लोभ और निस्वार्थ होना चाहिए। लोभ एव स्वार्थ की भावना न होने पर ही एकान्त निर्जरा होती है। कुरान में भी लिखा है कि 'मेरी आयतों का मोल मत लो।' पैसा लेकर कुरान का उपदेश करना कुरान के खिलाफ है। कुरान अपने गुनाहों से माफी पाने के लिए पढ़ा जाता है। इहलोक या परलोक संबंधी स्वार्थ से प्रेरित होकर धर्म का उपदेश करना मोहर छोड़ कर कौड़ी लेने के समान है। कर्मों की निर्जरा होना-पापों का नाश होना मोहर के बराबर है और बदले में कुछ चाहना या लेना कौड़ी के समान है।

उपदेशक उपदेश देता है और सुनने वाला सुनता है, मगर जो प्रेरणा करके दूसरों को धर्मोपदेश सुनने के लिए ले आता है, वह भी मानों रत्नों की दलाली करता है। उसे भी लाभ होता है।

*कीर्ति—सर्व दिशाव्यापी यश, वर्ण—एक दिशाव्यापी यश, शब्द—आधी दिशा तक फैला हुआ यश, श्लोक—जिस जगह विचरता हो वहीं फैला हुआ यश।

धर्म को न समझने वाले एक भी आदमी को अगर रास्ते पर ले आए तो निहाल हो गए !

दलाली लाल की जी; म्हारा सद्गुरु दई रे बताय ।

यह लालों की दलाली है । एक भी मनुष्य को अगर धर्म-पथ पर ले आते हो बड़ा भारी लाभ उठाते हो । जानते हो, एक भी मिथ्यात्वी को सम्यक्त्वी बना देने से क्या लाभ होता है ? पूज्य श्रीलालजी महाराज ने मेरे समक्ष कहा था कि—एक जीव पचोले-पचोले पारणा करता है और दूसरा किसी मिथ्यात्वी को सम्यक्त्वी बनाकर धर्मनिष्ठ बनाता है तो पचोले की तपस्या करने वाले से धर्मनिष्ठ बनाने वाला अधिक लाभ प्राप्त करता है ।

कोई कहे कि श्रावक को दलाली करने के लिए कहाँ लिखा है ? तो इस प्रश्न के उत्तर के लिए ज्ञाताधर्मकथा देखना चाहिए । चित्त प्रधान ने राजा प्रदेशी को मिथ्यात्व से छुड़ाकर धर्मात्मा बना दिया था तो उसे कितना लाभ हुआ ?

एक बार श्रीकृष्ण महाराज ने भगवान् नेमिनाथजी से पूछा—यह द्वारिका नगरी देवताओं ने बसाई है तो क्या यह भी नष्ट हो जायगी ? अथवा यह ज्यों की त्यों रहेगी ? भगवान् ने कहा—हे कृष्ण वासुदेव ! द्वारिका का भी नाश होगा ।

श्रीकृष्ण को यह उत्तर सुनकर आश्चर्य हुआ । उन्होंने पूछा—भगवन् ! इसका नाश किस प्रकार होगा । तब भगवान् ने द्वारिका नगरी के भावी नाश का वृत्तान्त बतला दिया । कृष्ण महाराज ने मन ही मन विचार किया—धन्य है जाली

और मयाली आदि कुमारों को जो ससार का त्याग करके साधु वन गये हैं।

इसके वाद श्रीकृष्णजी ने नगर में आकर ढूंढी पिटवा दी कि यह द्वारिका नगरी कायम नहीं रहेगी। द्विपायन ऋषि के क्रोध की आग में यह भस्म हो जायगी। अतएव जो कोई स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी आदि भगवान् के पास दीक्षा लेना चाहे, वह अवश्य दीक्षा ले ले। मैं उनका दीक्षामहोत्सव करूंगा और पीछे रहे हुए उनके कुटुम्बी जनों का पालन-पोषण करूंगा।

भाइयो! कहिए कृष्ण महाराज की यह कितनी बड़ी दलाली है! यह कितनी बड़ी भारी वात है? यह घोषणा सुन कर एक हजार व्यक्तियों ने दीक्षा धारण की। कृष्ण महाराज ने स्वयं उनका दीक्षा महोत्सव किया। ऐसा करने मे भी वड़ा भारी लाभ है।

हम जो प्रतिदिन उपदेश देते हैं, उसका प्रयोजन क्या है? मेरे कर्मों की निर्जरा के साथ आपका कल्याण हो जाय! इसी-लिए हम नियत समय पर आकर बैठ जाते हैं। आप भी मोक्षा-भिलाषी हैं, इसीलिए समय पर आ जाते हैं। कई वार मेरे जीवन में ऐसे भी प्रसंग आये हैं कि एक दिन मे तीन-तीन वार उपदेश देना पड़ा है और एक दिन में तीन गाँवों में जाकर भी उपदेश दिया है! यह वात मैं खास तौर से साधुओं को सुनाने के लिए कहता हूँ। वे धर्मोपदेश करने में कभी प्रमाद न करें।

क्षण निकमो रहनो नहीं, करनो उत्तम काम।
भणवो गुणवो सीखवो, रमणो ज्ञानाराम * ॥

* ज्ञान रूपी उद्यान।

भाइयो ! निकम्मे और निठल्ले मत बैठे रहो। निकम्मे बैठे रहने से बहुत हानियाँ होती हैं। पापों की ओर भावना दौड़ती है। निन्दा और विकथा की प्रवृत्ति बढती है। अतएव पठन-पाठन, चिन्तन मनन और ज्ञान दान में अपना समय लगाओ। सब जीवों को सत्य-मार्ग बतलाओ। तीव्रतर पुण्य के उदय से तुम्हें जो धर्म-रत्न प्राप्त हुआ है, उसे कंजूस की तरह छिपा कर मत बैठो। उस रत्न को जगत् के हित के लिए लुटा दो अर्थात् सभी को उससे लाभ उठाने दो। सभी को उस रत्न का प्रकाश पाने दो। इससे तुम्हारा पुण्य बढ़ेगा, तुम्हें और भी उत्तम स्थिति प्राप्त होगी। मुनि भगवान् के धर्म का प्रतिनिधि है, अतएव सभी को समान भाव से, करुणा भाव से धर्म का उपदेश करो। इससे जगत के जीवों का उद्धार होगा, जगत् में शान्ति का विस्तार होगा और तुम भी परम कल्याण के भागी बनोगे। अतएव भगवान् की पावन धरोहर का सदुपयोग करो। पहले स्वयं धर्म का मर्म समझो और फिर मुमुक्षु जीवों को समझाओ।

श्रीजम्बूकुमार की कथा—*

श्रीसुधर्मा स्वामी ने ऐसा ही उपदेश जम्बूकुंवर को सुनाया था तो वे वैरागी होकर अपनी नव विवाहिता पत्नियों से सवाल-जबाब कर रहे हैं। उन्होंने दो पत्नियों के कथन का उत्तर देकर उन्हें चुप कर दिया। वे दोनों एक तरफ बैठ गई। फिर तीसरी पद्मसेना नामक स्त्री उठकर पति के सामने आई और हाथ जोड़ कर, सिर नीचा करके बोली—नाथ ! आपने इन दोनों को चुप कर दिया है, मगर इससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ है। अब मेरी

---

* इससे पहले की कथा देखिए ता० १०-९-४८ के व्याख्यान में।

बात सुनिये। आप तो ऐसी बात करते हैं, जैसे—एक रानी थी और एक राजा था। रानी ने राजा का त्याग कर दिया और राजा ने रानी को छोड़ दिया। किसी प्रकार के आवेश में आकर उन्होंने परित्याग कर दिया, मगर इससे उन्हें भयंकर दुःख उठाना पड़ा।

तब जम्बूकुमार ने कहा—पद्मसेना, तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ है, यह बात तो तुम्हारी आकृति ही बतला रही है। अब तुम भी अपनी बात पूरी तरह कह लो।

पद्मसेना फिर कहने लगी—वसन्तपुर नामक नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी बड़ी ही रूपवती रानी थी। राजा का उस पर प्रगाढ़ प्रेम था और रानी भी राजा को अन्तःकरण से चाहती थी। मगर एक ऐसी घटना हो गई जिसने दोनों के सुखमय जीवन में अशान्ति की प्रचण्ड आग भड़का दी और दोनों का जीवन दुःखमय हो गया।

बात यों हुई। राजमहल के पिछवाड़े ही हाथीखाना था। वहाँ राजा के हाथी बँधा करते थे। एक महावत हाथी को खिलाता पिलाता था। रानी अपने महल की खिड़की में से उसका कार्य देखा करती थी और जब महावत खिड़की की तरफ देखता तो रानी खिड़की बंद कर लिया करती थी और जब महावत दूसरी तरफ नजर फिरा लेता तो फिर देखने लगती थी। बार-बार ऐसा करने का परिणाम कुछ और ही हुआ। कहावत है—'विद्या वनिता वेलड़ी' ऊँचा-नीचा स्थान नहीं देखती। प्रथम तो विद्या उसी को आ जाती है जो उसे पढ़ता है, चाहे कोई ब्राह्मण हो या शूद्र हो। स्त्री का स्वभाव भी ऐसा ही होता है। वह भी

अच्छा-बुरा नहीं देखती। कोई पुरुष कैसा भी क्यों न हो, वह उसके साथ हो जाती है। उसे आगे पीछे का विचार नहीं होता। किस काम का क्या परिणाम आएगा, वह पहले इस बात का विचार नहीं करती। यह बात वेल के विषय मे भी है। वेल के पास कोई भी और कैसा भी वृक्ष क्यों न हो, वह उसी का आश्रय ले लेती है। अच्छा या बुरा पेड़ नहीं देखती।

बार-बार की देखादेखी से जो परिणाम आता है, वही आ गया। राजा सरीखे पुण्यवान् पुरुष की तरफ से रानी का दिल फिर गया और महावत से उसका दिल लग गया! जरा विचार करो कि कहां राजा और कहाँ महावत! मगर चित्त में विकार उत्पन्न होने पर और पाप का उदय होने पर अच्छे-अच्छे बिगड़ जाते हैं। मनुष्य के मन में जब दुर्वासना उत्पन्न होती है तो बिगड़ते जरा भी देर नहीं लगती। चित्त का विकार मनुष्य को अंधा कर देती है। उचित क्या है, अनुचित क्या है, नीति क्या है, अनीति क्या है, इत्यादि विचार ऐसे मनुष्य से दूर ही रहते हैं। कई राजा दासियों के भी दास बन जाते हैं और कई रानियाँ अपने दासों की दासियाँ बन जाती हैं। वास्तव में यह काम विकार बड़ा ही अनर्थकारी है। सामान्य जनों की तो गिनती ही क्या, इसने बड़ों-बड़ों को अपने चगुल में फँसाया है। कहा है—

शम्भुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानाम्,
येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय,
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥

अर्थात—जिसने ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को भी औरतों का गुलाम बना छोडा और जिसका अनोखा चरित्र वचन से कहा भी नहीं जा सकता, उस फूलों के हथियार वाले-कामदेव-को मैं हाथ जोड़ता हूँ।

भाइयो! ऐसी प्रचण्ड शक्ति वाला है काम! ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को लोग देवता मानते हैं, मगर वे भी काम-विकार के शिकार हैं।

काम विकार से बचाकर शील का पालन कराने के लिए पुरुषों ने स्त्रियों के लिए पर्दे का आविष्कार किया है। जिस समय पर्दे का आविष्कार हुआ उस समय शायद उसकी उपयोगिता रही होगी और कुछ लाभ भी पहुंचा होगा। पर आज की स्थिति देखते हुए पर्दा प्रथा एक मजाक सी मालूम होती है। सभ्य शिष्ट और भले आदमियों से तो पर्दा किया जाता है, जो नीयत के साफ होते हैं और लुच्चों-नगों से कोई पर्दा नहीं किया जाता। पिता के समान श्वसुर से पर्दा किया जायगा पर ऐरे-गैरे बिना रुकावट के आएँगे-जाएँगे! पता नहीं, लोगों की अक्ल कैसी उल्टी हो रही है!

खैर। कहाँ रानी और कहां महावत! मगर रानी गिर गई। वह चूक गई। उसे राजा की अपेक्षा महावत अधिक प्रिय लगा। सो ठीक ही है, केसर से भरे कटोरे को छोड़कर मक्खी विष्टा पर जाकर बैठती है।

केसर कटोरा छोड़ कर हो सज्जन! माखी विष्टा पर जाय।
त्यों तू मुझको छोड़ने हो के रानी! नीच पुरुष मन भाय॥

कहो कहाँ केसर और कहाँ विष्ठा ! मगर मक्खी का ऐसा स्वभाव है कि वह केसर के पास नहीं जाती। उसे विष्ठा ही प्यारी लगती है। इसी प्रकार जो स्त्री, अपने विवाहित पति को छोड़ कर परपुरुष के पास जाती है, वह मानों केसर को छोड़कर विष्ठा पर जाने वाली, गंदगी को पसंद करने वाली मक्खी के समान है। यही बात पुरुष के लिए भी है। परस्त्री का सेवन करने वाला पुरुष जूठन चाटने वाले कुत्ते के समान गर्हित है।

हाँ, तो वह रानी अपने धर्म से पतित हो गई परन्तु राजा को कुछ भी पता नहीं चला।

जिस नगर में यह राजा-रानी रहते थे, उसी नगर में एक बूढ़ा रहता था। उसकी पत्नी मर चुकी थी। उसके परिवार में कुल दो ही प्राणी और थे—उसका बेटा और बेटे की बहू। दुर्भाग्य से उसके बेटे की बहू बदचलन थी। बूढ़ा दरवाज़े पर पोल में रहता था। बूढ़ों को नींद यों ही कम आती है, तिस पर उसे खाँसी का रोग था और इस कारण वह रात भर खों-खों किया करता था। इस प्रकार बूढ़ा उस औरत के मार्ग में बाधक होता था। वह अकसर सोचा करती—यह बुड्ढा जल्दी मर जाय तो अच्छा हो मेरे रास्ते का काँटा दूर हो जाय! मगर जो गाढ़ी लम्बी आयु लेकर आया है, वह जल्दी कैसे मरता? उस औरत की मन की मुराद पूरी नहीं हुई। उसकी वह भावना सफल न हुई। तब वह दूसरा मार्ग तलाश करने लगी।

इधर बूढ़े को पता चल गया कि मेरे बेटे की बहू दुराचारिणी है। पर वह जानता था कि यों सीधी तरह बेटे से कहूँगा

तो बात बनेगी नहीं। यह औरत बड़ी चालाक है। इसने अपने पति को अच्छी तरह गाँठ रक्खा है। मैंने इसके दुराचार की बात कही तो यह मुझको ही झूठा कर देगी और आप सच्ची बनी रहेगी। ऐसी दुश्शीला स्त्रियाँ अपने पति को ऐसा झांसा दिया करती हैं और दिखलाती हैं कि मैं बड़ी पतिव्रता और भाग्यवान् हूँ। यह सोच कर भी बूढ़ा चुप नहीं रह सकता था। वह सोचने लगता—यह दुराचारिणी कभी न कभी मेरे घर का सत्यानाश कर देगी। इसकी बदौलत मेरी सारी इज्जत धूल में मिल जायगी। अन्त में उसने निश्चय किया कि इसके दुराचार की कोई निशानी अपने बेटे को बतलाऊँगा और तभी वह मेरी बात मानेगा।

एक दिन की बात है। उसका पति गाढ़ी नींद में सो रहा था। स्त्री चुपचाप निकल कर दूसरे के पास चली गई और वहां सो गई। बूढ़ा भी पीछे से गया और सोती हुई के पैरों से जेवर निकाल कर ले आया। ऐसा करते समय औरत की नींद खुल गई। वह समझ गई कि यह बुड्ढा मेरे पति को जेवर दिखलाएगा और इसके फलस्वरूप मेरी फजीहत होगी। यह सोचकर वह वहाँ से उठ आई और फिर पति के पास आकर लेट गई। थोड़ी देर बाद उसने पति को जगाकर कहा—मुझे यहाँ नींद नहीं आ रही है, अतएव उधर चलो। पति उठ कर उसके बतलाये स्थान पर आकर सो गया। यह वही स्थान था जहाँ वह परपुरुष के साथ सोई थी।

इतना सब करने के बाद जब पति को नींद आ गई तो वह अचानक चिल्ला पड़ी—देखो, देखो अपने बाप की करतूत को देखो! तुम्हारा बूढ़ा बाप मेरे पैरों के गहने उतार कर और सिरहाने दबा कर सो गया है।

उसके पति की नींद खुली। उसने बाप के पास जाकर और उसे लातें लगाकर कहा—बुड्ढे कहीं के! तूने जेवर ले लिया और खराब बरताव करता है!

इधर औरत चिल्लाने लगी हे राम! मैं अब जिन्दा नहीं रहूँगी! हाय! यह कैसा कलंक लग गया! देखो, क्या-क्या कपट भरे पड़े हैं दुनियां मे! वह रोने लगी और तूफान मचाने लगी। वह शरीर त्याग देने की धमकी देने लगी।

पति भोंदू उसके नटखट को पहचान नहीं सका। वह कहने लगा-तुम शरीर का त्याग क्यों करोगी? इसमें तुम्हारा क्या दोष है? देखो, चिन्ता मत करो। पहले ही हड्डियां निकल रही हैं। चिन्ता करने से और दुवली हो जाओगी! खून बरावर बनता नहीं है, जो है उसे भी जलाये रही हो। सचमुच मेरा बाप बड़ा पापी है।

प्रातःकाल हुआ। बेटा, बाप की फरियाद लेकर राज-दरबार में पहुँचा।

कहा—मेरा बाप ऐसा बदमाश है कि मेरी औरत के साथ छेड़छाड़ करता है। तब पुलिस ने आकर बूढ़े को गिरफ्तार कर लिया और हिरासत में ले लिया। यथा समय फैसला हुआ। बूढ़ा दोषी साबित हुआ और उसे बड़े घर का मेहमान बना दिया गया।

इधर उस औरत ने तिरिया चरित्र करना शुरू किया। वह रो-रो कर कहने लगी-मैं मरूगी, बिना मरे नहीं रहूँगी। उसके पति ने प्रेम और दीनता दिखलाते हुए कहा—मेरी पगड़ी

की लाज रक्खो। तुम न रहोगी तो संसार में मेरा कौन होगा ? मैं किसका होकर जीवित रह सकूंगा।

स्त्री बोली—मै पतिव्रता स्त्री हूँ। पर पुरुष ने मेरे जिस शरीर को हाथ लगा दिया है उस शरीर को त्यागे विना मैं कैसे रह सकती हूँ।

मुहल्ले वाले भी आये। उन्होंने भी समझाया, मगर उस पतिव्रता शिरोमणि औरत ने अन्न पानी ग्रहण भी नहीं किया !

सबके सामने एक विकट समस्या खड़ी हो गई। आखिर उस समस्या का हल निकला। गांव के बाहर एक देवालय है। वहां जाकर जो हाथ लगाता है, वह अगर झूठा हो तो मर जाता है और सच्चा हो तो जीवित रह जाता है! बस, इसी कसौटी पर इसके धर्म को कस लेने का निश्चय किया गया।

औरत बड़ी बनी हुई थी। इस परीक्षा से वह जरा भी नहीं डरी। उसने कहा—मैं जरूर जाकर हाथ लगाऊँगी और दुनिया को जाहिर कर दूंगी कि मै सच्ची पतिव्रता हूँ।

देवालय जाने की तैयारी हुई। ढोल वाला बुलवाया गया। पूजा की थाली सजाई गई। पतिव्रता ने नया घाघरा, नयी ओढनी और कांचली धारण की। सिर के बाल बिखेर लिये बहुत-सी स्त्रियों के साथ वह देवालय की ओर चल पड़ी। उसे विश्वास था कि मैं अपने बुद्धि कौशल से देवालय के देव को भी ठग सकूंगी। और सचमुच ऐसा ही हुआ।

इधर वह घर से रवाना हुई और उधर उसने अपने जार

को कहला दिया कि किसी भी तरकीब से बाजार में आकर तुम मुझे छू जाना।

उसके जार ने फटे कपड़े पहने। मुंह पर और हाथों पैरों पर कोयला पोतलिया। ऊपर से सिंदूर लगा लिया। नीम का छिलका हाथ में ले लिया। इस प्रकार अद्भुत और भयानक भेष बनाकर वह 'हो हो' करता हुआ आया और औरत पर जा पड़ा!

औरत कहने लगी–हाय! यह तो गजब हो गया। या तो मेरे पति का पल्ला छुआ है या इस पुरुष का छुआ है! आखिर वह देवता के पास पहुंची और बोली:—

पेलो ने वली गेलो हो, इन टाली जो वंछो होवे
तो दीजे देव मने दोष॥

हे देवता! एक तो पति और दूसरे बाजार में मिले उस पागल के सिवाय किसी का पल्ला लगा हो तो तू न्याय कर! हे देवता! मैं तेरे पैरों पड़ती हूँ और हाथ जोड़ती हूँ। मैं पतिव्रता अब तेरे ही सहारे हूँ।

बेचारा देव करता भी तो क्या करता! उस धूर्त्त औरत ने अपने पति और जार दोनों का ही आगार रख लिया था! इस प्रकार उसने अपनी चतुराई से देवता को भी पराजित कर दिया!

आनन्द और उत्साह के साथ पूजा हुई। धन्य है सती, धन्य है, इस प्रकार के नारों के साथ वह अपने घर लौट आई। सारे नगर में उसके सतीत्व की बात फैल गई।

उधर बूढ़े श्वसुर को भी यह सब समाचार विदित हुए। वह मन ही मन सोचने लगा — संसार कितना विषम है! मनुष्य समझता है कि उसने बुद्धि का ठेका ले रक्खा है! उसके समान बुद्धि और कहीं नहीं है! मगर वास्तव में वह कितने भ्रम में है! उसका ज्ञान कितना नगण्य और तुच्छ है! वह सत्य को झूठ और झूठ को सत्य समझता हुआ भी अपने ज्ञानी होने का दावा नहीं छोड़ सकता! और तिरियाचरित्र को देखो! उसके सामने देवता भी पानी भरते हैं। स्त्री देवता को भी किस सफाई के साथ ठग लेती है।

बूढ़ा जेलखाने में पड़ा सड़ रहा था। नींद उसे पहले भी नहीं आती थी और अब तो कहना ही क्या है? बुढ़ापे में कलक की कालिमा लगी, इज्जत गई, सच्चा होने पर भी झूठा कहलाया! यह सब बातें उसे क्षण भर चैन नहीं लेने देती थीं। जेलखाने का पहरेदार 'खबरदार खबरदार' करता हुआ, जब भी आता, बूढ़े को जागता हुआ ही पाता था। एक दिन पहरेदार ने राजा से यह कैफियत कही। कहा—अन्नदाता! जब कभी भी हम जाते हैं, बूढ़े को जागते ही पाते हैं। राजा ने यह सुन कर कहा—तो ठीक है, उसे ड्योढ़ी का पहरेदार बना दो।

बूढ़ा अब पहरेदार बन गया। वह चौकन्ना रहने लगा। मगर जब सब लोग सो जाते हैं तो वह एक चमत्कार देखता है। महावत हाथी लेकर खिड़की के पास आता है, हाथी की सूंड ऊँची कराता है और रानी उसके सहारे नीचे आ जाती है। यह तमाशा देख कर वह सोचने लगा—बड़े-बड़े घरों में भी यह कृत्य होते हैं तो मेरे जैसे सामान्य मनुष्य के घर में इनका होना क्या

आश्चर्यजनक है ! मेरी बड़ी भूल हुई जो मैंने बखेड़ा खड़ा किया। जब रानीजी की भी यह हालत है तो औरों का क्या पूछना है ?

इस घटना को देखने से उसकी चिन्ता दूर हो गई। चिंता दूर होते ही उसे नींद आ गई। राजा को मालूम हुआ तो उसने बुलवा कर पूछा—क्यों रे, तुझे तो नींद ही नहीं आया करती थी, फिर आज नींद कैसे आ गई ? बूढे को भी अपनी नींद पर आश्चर्य हुआ। फिर उसने सोच कर कहा—सरकार, आपने बड़ी कृपा की जो मुझे जेलखाने में रक्खा और फिर ड्योढ़ी पर पहरेदार मुकर्रर कर दिया। इससे मेरी सारी चिन्ता दूर हो गई। मेरे सब दुख दूर हो गये। अब मैं आनन्द में हूँ।

राजा ने कहा—हुआ क्या ? किस तरह तेरे सब दुःख दूर हो गये ?

बूढ़ा बोला—मेरा अपराध क्षमा कर दें तो निवेदन करूँ।

राजा—हां, कह, जरूर कह।

बूढा—मैं समझता था कि मेरी पुत्रवधू ही बदचलन है और उसकी चालाकी की बदौलत मुझे जेलखाना और ड्योढ़ी की पहरेदारी मिली है। इसी चिन्ता के कारण मेरी नींद हराम हो गई थी। मगर जब मैंने देखा कि राज्य घराने मे भी यही सब चल रहा है तो वह मानसिक संताप दूर हो गया।

राजा सुनकर आश्चर्य में आ गया। उसने सारी बात स्पष्ट रूप से कहने का आग्रह किया। बूढ़े ने रात्रि में जो कुछ देखा था, राजा से कह दिया। राजा ने बूढ़े से कहा—यह बात

किसी के सामने मत कहना। इसके बाद राजा ने रानी और महावत से कहा—तुम अपना काला मुँह करके यहाँ से चले जाओ। मैं नहीं चाहता कि तुम्हारी करतूतों का भंडाफोड़ हो और मुझे भी नीचा देखना पड़े।

दोनों वहाँ से चल पड़े। रानी के शरीर पर जेवर थे। राजा चाहता तो जेवर उतरवा सकता था। पर उसने सोचा—रानी स्वयं अपवित्र है तो इसके शरीर के जेवर भी अपवित्र हैं। इन्हें अपने पास रखना ठीक नहीं है।

चलते-चलते दोनों किसी देवरे (देवालय) में ठहरे। थके-मांदे होने के कारण दोनों को नींद आ गई। कुछ चोर चोरी करके उधर से निकले। जिस चोर के पास धन की गठरी थी, वह संयोग-वश उसी देवरे में जा घुसा। चाँदनी रात में रानी की निगाह उस चोर पर पड़ी। रानी सोचने लगी—यह युवक कितना सुन्दर है। महावत तो इसके पैर की धूल की भी होड़ नहीं कर सकता। फिर रानी ने उससे पूछा—तुम कौन हो?

चोर ने साफ-साफ बतला दिया कि मैं चोर हूँ। रानी ने कहा—इतने सुन्दर होकर चोरी का धंधा मत करो। मेरा कहना मानो तो यह गठड़ी यहीं रहने दो और तुम मेरे साथ चले चलो।

रानी का रूप-रंग देख कर और उसकी प्यार भरी मधुर वाणी सुन कर चोर मोहित हो गया उसने गठड़ी वहीं छोड़ दी। रानी महावत को त्याग कर चोर के साथ रवाना हो गई। वे दोनों रास्ते में जा रहे थे तब उन्हें चोर की तलाश करते हुए राज-कर्मचारी मिले। उन्होंने राजकर्मचारियों से कहा—यहां कहाँ हैं

चोर ! चोर तो उस देवरे में है। वहां पहुँचोगे तो माल और चोर दोनों मिल जाएँगे।

वे लोग आये और महावत को पकड़ कर राजा के पास ले गये। राजा ने उसे चोर समझ कर शूली पर चढ़ाने का हुक्म दे दिया। महावत जब शूली पर आया तो रोने लगा और पश्चात्ताप करने लगा। वह सोचने लगा—आह ! मैं कितना अधम और नीच हूँ ! मैंने जिसका खाया, उसी का नुकसान किया ! मेरे जैसे पापियों की क्या गति होगी ?

ससार में सब प्रकार के मनुष्य होते हैं। कई लोग अपने आजीविकादाता स्वामी का द्रोह करने में भी सकोच नहीं करते ! कोई रुपये-पैसे चुराकर भाग जाता है और कई मुनीम व्यापार में धोखा देते हैं। लाभ हुआ तो स्वयं हड़प जाते हैं और घाटा हुआ तो सेठ के नाम मांड देते हैं।

महावत पापी और स्वामी-द्रोही था। फिर भी पश्चात्ताप करने से उसके पापों की गुरुता कम हो गई। उसके अन्तःकरण मे शुभ भावना का विकास हुआ। इस भावना के साथ मरने के कारण उसे देवगति प्राप्त हुई।

उधर रानी और चोर चले जा रहे थे। रास्ते में एक नदी मिली। उसमे गहरा पानी था। चोर ने कहा—मैं पहले सारा सामान परले पार रख आता हूँ और फिर आकर तुम्हें ले चलूंगा। यह कह कर चोर ने रानी के जेवर और कुछ कपड़े उतरवा लिये और उन सब की गठड़ी बाँधकर परले पार जा पहुँचा। उसने वहीं से चिल्ला कर कहा—धूर्त्ता कहीं की ! अपने

किये का फल भोग। जो राजा की नहीं हुई और महावत की भी नहीं हुई, वह मेरी कैसे होगी ? पुरुषों को धोखा देना तेरा धन्धा है, मैं अन्धा नहीं कि तेरे धन्धा का शिकार बनूं।

इतना कह कर वस्त्र और आभूषण लेकर चोर रवाना हो गया ! रानी की मुसीबत का पार नहीं रहा। वह अकेली नदी के किनारे खड़ी रोने-कलपने लगी। आज रानी अपनी करतूत के कारण निराधार है। कोई उसका सहायक नहीं है। उस असहाय अवस्था में उसे धीरज बँधाने वाला भी कोई नहीं है। उसे ऐसा जान पड़ने लगा कि आज सारा संसार मानों शून्य है !

महावत का जीव, जो मर कर देव हुआ था, अवधिज्ञान के द्वारा रानी की वर्त्तमान अवस्था को जान गया। उसने सोचा-अन्तिम समय में भावना शुभ हो जाने के कारण मैं देव हुआ हूँ। वह रानी वेचारी दुखी है, उसे चलकर शिक्षा क्यों न दूं ? देवता वगुले का रूप बना कर वहाँ आया और रानी के पास नदी के किनारे एक पांव से खड़ा हो गया। इतने में एक मछली आई। वगुले ने अपनी चोंच से मछली को पकड़ लिया। वह मछली को कभी उछालता और कभी फिर चोंच में दबा लेता था। वेचारी मछली तड़प रही थी !

रानी खेदखिन्न अवस्था में इस कौतुक को देखने लगी। इतने में एक और मछली आई। वगुला ने उसे पकड़ने के लिए चोंच फैलाई तो पहले वाला मछली निकल भागी और वह दूसरी भी चली गई ! यह देख कर रानी ने कहा—ले, और लोभ में पहली को भी गँवा बैठा ! तेरे जैसा मूर्ख और कौन होगा ?

यह सुनकर वगुला बोला—यह बात कोई और कहता तो उसके मुँह से सोहती भी, पर तुम्हारे मुँह से नहीं सोहती। मैं दो से चुका हूँ, परन्तु तुम तो तीन से चूकीं। तुम पहले पहल राजा से, फिर महावत से और फिर चोर से चूकीं हो।

रानी वगुले की बात सुनकर विस्मित हो गई। लज्जा और आन्तरिकवेदना से उसका सिर झुक गया। उसने पूछा—तुम्हें यह बात कैसे मालूम हुई।

तब देवता ने अपना असली रूप बनाया और सारा वृत्तान्त वतलाया। मैं अपनी शुभ भावना के कारण देव हुआ हूँ और तुझे समझाने के लिए तेरे पास आया हूँ। तू ने अपने जीवन को भ्रष्ट कर लिया है और उत्तरोत्तर पतन की ओर चली जा रही है। ठीक ही कहा है.—

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।

अर्थात्—जो एक वार विवेक से भ्रष्ट हो जाता है, उसका शतमुखी पतन होता ही चला जाता है। पर्वत के शिखर से नीचे लुढ़कने वाला अन्ततः गिरता ही चला जाता है। फिर कोई भाग्यवान् ऐसा हो सकता है जो बीच में ही सँभल जाय। तू चाहे तो अब सँभल सकती है, अन्यथा तेरे पतन की कोई सीमा नहीं रहेगी। सँभलना है, सुधरना है, तो सत्सगति कर और अपने जीवन को अधिक पतन से बचा ले।'

जम्बुकुमार की तीसरी स्त्री पद्मसेना ने अपनी कथा का उपसंहार करते हुए कहा—प्राणनाथ! अगर आप समय पर सावचेत न हो गये तो आपकी भी यही स्थिति होगी। आपको

७

भविष्य की ओर

स्तुतिः—

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रयद्युतिमां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्या ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? भगवन् ! आपके गुण कहां तक गाये जाएं ?

भगवान् ऋषभदेव जब समवसरण में विराजमान होते थे, तब उनके पीछे एक भामण्डल होता था, जिसके कारण भगवान्

चतुर्मुख दिखाई देते थे, अर्थात् जिस ओर से देखो उसी ओर से भगवान् के दर्शन होते थे। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण-चारों दिशाओं से भगवान् का मुखारविन्द दिखाई देता था। उस भामण्डल की आभा बड़ी ही उग्र थी। तीन लोक में जितने भी आभा वाले पदार्थ हैं, उन सब को वह ढक लेता था। सूर्य का प्रकाश उसके सामने नगण्य था। चांदनी रात को भी उसने जीत लिया था। वह भामण्डल भगवान् के अनन्त आन्तरिक तेज की परछाई सरीखा जान पड़ता था भगवान् ने अपने पूर्व भव में तीर्थङ्कर गोत्र का जो उपार्जन किया है, उसी परमप्रकृष्ट पुण्य-प्रकृति का वह परिणाम था। भगवान् ऋषभदेव उस भामण्डल से मंडित थे। ऐसे ऋषभदेव भगवान् को हमारा वार-वार नमस्कार हो।

भाइयो! पुण्य प्रकृति के पुद्गलों में बड़ी जबर्दस्त शक्ति होती है। उस शक्ति के प्रभाव से अनेक अतिशय प्रकट होते थे। उनमें से एक अतिशय यह है कि भगवान् जहां विचरते थे वहां आसपास चार-चार कोस के सीधे कांटे उलटे हो जाते थे। कहा जा सकता है कि कांटे तो निर्जीव हैं, उन्हें क्या पता चलता होगा कि भगवान् पधारे हैं तो हम ऊर्ध्वमुख से अधोमुख हो जाएं फिर किस प्रकार वे उलटे हो जाते थे? इसका उत्तर एक लौकिक उदाहरण से ही लीजिए। सज्जी डाल कर दाल से पापड़ बनाये जाते हैं। जब पापड़ बनाये जा रहे हों तब पास से अगर कोई रजस्वला स्त्री निकल जाय तो कहो पापड़ों का रंग कैसा हो जाता है? पापड़ भी तो निर्जीव हैं। उन्हें कौन समझाता है कि रजस्वला स्त्री पास में आ गई है इसलिए तुम अपना रंग रूप बदल लो! वह स्त्री न स्वयं कहती है और न दूसरी कोई स्त्री उन्हें

भी अन्त में रानी की नाईं पश्चात्ताप करना पड़ेगा। जैसे रानी न इधर की रही न उधर की रही—दोनों तरफ से गई, इसी प्रकार आप भी दोनों तरफ से हाथ धो बैठेंगे। न इस लोक के सुख मिल सकेंगे, न परलोक के। अतएव पहले सम्यक् प्रकार से विचार कर लीजिए। जैसे रानी विषय सुखों के लिए पागल होकर विवेक को विसार चुकी थी, वैसा आप न कीजिए। आप सयम-संयम की रट लगाये हुए हैं, अगर सयम न पला तो फिर पछताना पड़ेगा। इसलिए—

संयम की बात न भाखो रसिया।

संयम की बात मत कहो रसिया! मैं जो कहती हूँ सो सुनो और मानो।

आपने पाणिग्रहण के समय, पचों के सामने क्या प्रतिज्ञा की थी? आपने जीवन पर्यन्त हमारे साथ कपट न करने की प्रतिज्ञा थी। मगर पाणीग्रहण के पश्चात् तत्काल ही आप हमारे साथ कपट कर रहे हैं। निर्दोष पत्नी का परित्याग कर देना उसके साथ बड़े से बड़ा कपट करना है। इससे बढ़ कर और कोई कपट नहीं हो सकता। आप यह तो जानते हैं कि आपके अतिरिक्त हमारे लिए दूसरा कोई पति नहीं हो सकता। फिर भी आप त्यागना चाहते हैं? आप शिष्ट हैं, सभ्य हैं और सुसंस्कारी हैं। फिर भी प्रतिज्ञा करके इस तरह पलट जाना चाहते हैं! यह तो धर्म का पालन करने के लिए धर्म का परित्याग करना है।

देखिये, जो पुरुष अपनी स्त्री से पूछे बिना इधर-उधर जाता है, वह अपनी स्त्री का चोर है। आपने अग्नि, वायु देवता

की साक्षी से हमें जो वचन दिया है, उसका आपको पालन करना चाहिए। आप कृपा करके हमारी लाज रखिए। भर यौवन में आप हमारा परित्याग कर दें, यह उचित नहीं है। हमारा लम्बा जीवन किसके सहारे व्यतीत होगा ? और कुछ नहीं तो हमारे ऊपर दया ही कीजिए।

प्राणाधार ! आपने साधुजी का उपदेश सुन कर साधु बनने की ही बात पकड़ ली है। परन्तु क्या साधु बने बिना आत्म-कल्याण हो ही नहीं सकता ? ऐसा होता तो भगवान् ने गृहस्थ धर्म का उपदेश क्यों दिया है ? श्रावक और श्राविका को तीर्थ मे क्यों गिना है ? लम्बा विचार कीजिए, गहरा सोचिए और तब अपने कर्त्तव्य का निर्णय कीजिए। रानी की तरह बिना सोचे-समझे काम कर डालना अच्छा नहीं है। अभी तीर आपके हाथ में है। छोड़ना या न छोड़ना आपके वश की बात है। एक बार तीर छोड़ देने के बाद फिर वह बीच मे से नहीं लौटाया जा सकेगा। अतएव हमारी प्रार्थना पर गौर कीजिए। अगर आप मेरी बात को मान लेंगे तो सब तरह से आनन्द ही आनन्द होगा।

ता० १८-६-४८

ऐसी सूचना देती है। अगर कोई सूचना देना भी चाहे तो जड़ पापड़ समझ ही कैसे सकते हैं ?

इस उदाहरण के आधार पर जो निष्कर्ष निकलता है, वह यही कि पुद्गलों में ऐसी-ऐसी शक्तियां विद्यमान हैं जिनकी सर्व-साधारण लोग कल्पना ही नहीं कर सकते। रजस्वला स्त्री के अपावन पुद्गलों में पापड़ों का रंग बदल देने की शक्ति है और वह शक्ति अनुभव-सिद्ध है, तो फिर पुण्य प्रकृति के सर्वोत्कृष्ट पुद्गलों में अगर ऐसी शक्ति हो कि जिसके कारण कांटे अधोमुख हो जाएं तो इसमें कौन-सा आश्चर्य है ?

यह एक प्रकार की कशिश है। जब कभी भैंस वगैरह कोई पशु भ्रम से सुई खा जाता है तो चुम्बक पाषाण को बाहर फेरने से वह सुई मल द्वार से बाहर निकल आती है। सूई दूर है और पाषाण भी दूर है, लेकिन पाषाण दिखलाया कि सुई हिलने लगती है। उस सुई से किसने कहा कि पाषाण देखते ही तू हिलने लगना। फिर भी वह हिलती है, यह तो प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। पाषाण सुई से कब कहता है कि तू मेरे पास आ जा और चिपक जा लेकिन वह कशिश कैसी है कि सुई दौड़ कर चिपक जाती है।

किसी-किसी जगह ऐसी मूर्ति होती है कि उसके चारों ओर चुम्बक पाषाण लगा दिया जाता है जिससे वह मूर्ति अधर ठहर जाती है। लोग देख कर आश्चर्य करते हैं और कहते हैं—अहा ! कैसा चमत्कार है। मूर्ति अधर ठहरी हुई है।

एक अंग्रेज की नौका पानी में चली। बीच में कोई लोह चुम्बक की चट्टान आने से वह रुकी होगी, मगर वह समझा कि

नौका को भूत लग गया है। अरे भूत क्या लग गया, पुद्‌गलों में कशिश है। पुद्‌गल तो ऐसे-ऐसे होते हैं कि उनकी कशिश से हाथ टूट जाते हैं और पैर टूट जाते हैं। ऐसे-ऐसे पेड़ भी सुने जाते हैं जो दूर के मनुष्य को अपनी तरफ खींच लेते हैं और फिर उनके रक्त और मांस को चूस लेते हैं। हड्डियों का पंजर कर डालते है। अनजान आदमी ऐसी बातें सुनता है तो बड़े आश्चर्य में पड़ जाता है और विश्वास भी नहीं करना चाहता।

पुद्‌गलों की ऐसी-ऐसी अनोखी शक्तियाँ जब मौजूद हैं तो भगवान् की पुण्य प्रकृति के पुद्‌गलों के प्रभाव से सीधे कांटे उलटे क्यों नहीं हो सकते ? कशिश दुनिया में बड़ी भारी चीज है।

जिसने उच्च कोटि का पुण्य कमाया होता है, उसी को उच्च कोटि के परमाणु प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्ष में देखिए कि किसी-किसी का प्रभाव ऐसा होता है कि लोग उसकी पीठ पीछे भले उसके विरोध में बातें कर रहे हों, मगर उसके आते ही सब के सब चुप्पी साध लेते हैं। वह आते ही सब को एकदम प्रभावित कर देता है। विचार कीजिए कि पहले लोग उसके खिलाफ बोल रहे थे और उसके आते ही क्या हो गया ? उसने किसी को कुछ कहा या ललकारा या थप्पड़ मारी ? सच बात यह है कि उसके पुण्य-पुद्‌गलों की कशिश ही ऐसी है कि उसके सामने कोई कुछ नहीं कर सकता।

आपको मालूम होगा कि पहले देवलोक के इन्द्र शक्रेन्द्रजी और दूसरे देवलोक के इन्द्र ईशानेन्द्रजी के पहले और दूसरे देवलोक बराबरी में हैं। इन दोनों के बीच मे एक विमान ऐसा आ गया है कि दोनों इन्द्र उसे अपने अधिकार में लेना चाहते हैं।

शक्रेन्द्र कहते हैं— इसे मै लूंगा और ईशानेन्द्र कहते हैं- इसे मैं लूंगा। इस पर दोनों में आपस में लड़ाई हो जाती है। दोनों दिव्य शक्ति के धारक, वैक्रियलब्धि के स्वामी और जबर्दस्त हैं। ऐसी हालत में किसकी जीत और किसकी हार हो? वास्तव में न कोई जीतता है, न कोई हारता है। लड़ते-लड़ते दोनों के दिल में विचार आता है कि तीसरे देवलोक के इन्द्र—सनत्कुमारजी हमारा बीच-बचाव कर दें तो अच्छा हो। ऐसा विचार करते ही सनत्कुमारेन्द्रजी को मालूम हो जाता है और वे आकर दोनों के बीच मे खड़े हो जाते हैं।

अब यहां कोई कह सकता है कि दोनों इन्द्र तो अपने-अपने मन मे विचार करते हैं और सनत्कुमारजी को कैसे पता लग जाता है? पर भाइयो! यह भी एक प्रकार की कशिश है। आपको हिचकी आती है तो आप याद करने वालों का नाम लेते हैं और हिचकी बंद हो जाती है। यह सब पुद्गलों की कशिश है। सनत्कुमारजी इसी कशिश के प्रभाव से मालूम करके आ जाते हैं और कहते हैं—'मा सक्का, मा इसाणा।' बस, इतना कहते ही लड़ाई बंद हो जाती है।

इस विषय में श्री गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते हैं कि तीसरे देवलोक के इन्द्र ने ऐसा क्या पुण्य उपार्जन किया है, जिसके फलस्वरूप वे बत्तीस लाख विमानों के स्वामी हुए और उनके इतना-सा कहते ही दोनों इन्द्र लड़ना बंद कर देते है? भगवान् इस प्रश्न का उत्तर देते हुए फर्माते हैं-हे गौतम! सनत्कुमार महाराज, इस मनुष्यलोक मे चक्रवर्त्ती के भोजनालय के दारोगा थे। चक्रवर्त्ती के भोजनालय में, उसकी देखरेख में ही सब चीजें

बनती थीं। एक वार चक्रवर्ती भोजन करने बैठे। भोजन वड़ा ही सुन्दर और स्वादिष्ट बना था। भोजन जीमकर चक्रवर्ती को बहुत सन्तोष हुआ। उसने दारोगा से कहा—आज का भोजन बनाने में तुमने पाकशास्त्र सबधी जिस कुशलता का परिचय दिया है, उससे मैं अत्यन्त संतुष्ट और प्रसन्न हूं। तुम जो चाहो सो मांग लो।

दारोगा ने उत्तर दिया—दीनानाथ! मैं अपने लिए जमीन या जागीर नहीं चाहता, हीरा-पन्ना आदि जवाहरात नहीं चाहता और कोई ऐश-आराम की वस्तु भी नहीं चाहता। मैं सिर्फ एक चीज चाहता हूँ और वह यह कि भोजनालय में आपके जीम चुकने के बाद जो भोजन बचे उसे मैं अपनी इच्छा के अनुसार जिसे चाहूँ उसे जिमा सकूं, यह अधिकार मुझे होना चाहिए।

भाइयो! पुण्य का उपार्जन किस प्रकार किया जाता है, यह जानने के लिए यह वृत्तान्त आपको सुनाया जा रहा है। चक्रवर्त्ती राजा के पास किस चीज की कमी थी? दारोगा जो कुछ भी चाहता से उसे मिल सकता था। वह बड़े से बड़ा राज्य भी प्राप्त कर सकता था। चौदह रत्नों और नौ निधियों का स्वामी चक्रवर्त्ती सम्राट् जिसे मनचाहा मांग लेने की छुट्टी दे दे, उसके लिए और क्या चाहिए था? मगर नहीं, दारोगा की मनोवृत्ति ऐसी नहीं थी। अतएव उसने अपने स्वार्थ के लिए, अपनी भोगलिप्सा को शान्त करने के लिए, अपने और अपने वाल बच्चों के लौकिक सुख के लिए कुछ भी नहीं मांगा। यह कितना बड़ा स्वार्थत्याग है? ऐसे स्वार्थ त्यागी पुरुष ही पुण्य का उपार्जन कर सकते हैं। जो लोग पैसे-पैसे के लिए धर्म और नीति

को तिलांजलि देने के लिए तैयार रहते हैं, जो अपने लाभ के सामने दूसरों की बड़ी से बड़ी हानि को नगण्य समझते हैं और अपने सुख को ही सब कुछ समझते हैं, ऐसे लोग क्या खाक पुण्य का उपार्जन कर सकते हैं?

चक्रवर्त्ती अभी तक दारोगा की पाक विद्या पर ही सन्तुष्ट था, अब उसे मालूम हुआ कि यह व्यक्ति कितना उदार और उन्नत विचारों का स्वामी है। चक्रवर्त्ती उसकी निस्पृहता देख और भी अधिक प्रसन्न हुआ। उसने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ उसे इच्छानुसार जिमाने की आज्ञा दे दी।

आखिर चक्रवर्त्ती महाराजर का रसोड़ा ठहरा! जब साधारण आदमियों के रसोड़े में भी भोजन सामग्री बच जाती है तो चक्रवर्त्ती के रसोड़े में बचना तो स्वाभाविक ही था! उसमें प्रतिदिन कितनी ही चीजें बढ़ जाती थी। दारोगा अपनी इच्छा के अनुसार उनका उपयोग कर सकता था। अतः उसने उस नगर में खबर करवा दी कि जो भाई एकान्तर उपवास आदि करें और जिसे जिस किसी भी वस्तु की आवश्यकता हो, वे निःसंकोच भाव से वहां से ले सकते हैं। अगर कोई यहां आकर न लेना चाहें तो उनके घर भेजी जा सकती है। उसने साधुओं और सतियों से कहा—आपको जैसे भी आहार की आवश्यकता हो यहाँ निर्दोष मिल सकता है। हितकारी और पथ्यकारी वस्तुएँ यहां मिलेगी।

इस प्रकार उस दारोगा ने चारों तीर्थों को साता पहुँचाई। सुपात्रदान दिया। इससे उसका संसार परीत हो गया और उसे समकितरत्न की प्राप्ति हुई। वहाँ से यथासमय शरीर त्याग कर

तीसरे देवलोक का इन्द्र हुआ है। इसके पश्चात् काल करके महाविदेह क्षेत्र में, धन-धान्य आदि से सम्पन्न घर मे जन्म लेगा और भगवान् की वाणी सुन कर, दीक्षा धारण करके मोक्ष प्राप्त करेगा।

भाइयो ! यह आगम मे लिखा वृत्तान्त है। आज अगर आपको किसी राजा के भोजनालय की सत्ता सौंप दी जाय तो आप क्या करेंगे ? यही न खुद खा-पीकर मौज उडाओगे, मस्ती करोगे और कोई नंगा-भूखा दीनहीन कदाचित् आ जायगा तो उसे फटकार बतलाओगे ? आज प्रायः धनवानों को गरीब ऐसे खटकते है जैसे आंख मे गई हुई किरकिरी खटकती है। धनवान् जिस भावना के साथ धनवान् से मिलता है, उस भाव से गरीब से नहीं मिलता। आज दुनिया का वातावरण धीरे-धीरे ऐसा बन गया है, मानों दुनिया में अमीरों की अलग और गरीबों की अलग जाति है। प्राचीन काल मे ऐसी बात नहीं थी। उस समय ऐसी व्यापक आर्थिक विषमता नहीं थी। अगर कहीं विषमता थी भी तो अमीर लोग गरीबों को तिरस्कार और हिकारत की निगाह से नहीं देखते थे। उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते थे और समय पर उन्हे अपना भाई समझकर सहायता देते थे। पर आज कहां है यह उदारता ? कहाँ है यह सौजन्य ? कहाँ है यह सहानुभूति ? नतीजा यह आ गया है कि आज अमीरों का वर्ग अलग है और गरीबों का वर्ग अलग बन गया है। दोनों वर्गों मे घोर संघर्ष छिड़ा हुआ है। भारतवर्ष मे वह संघर्ष अभी उग्र रूप में दिखाई नहीं पड़ रहा है, पर विदेशों मे उसने अपना विकट रूप प्रकट कर दिया है। समय दूर नहीं है कि वह संघर्ष इस देश मे भी उतने ही उग्ररूप में फैलेगा। आज विदेशों में जो स्थिति है, उसे देखते हुए यही संभावना की जा सकती है कि गरीबों का

विपुलसंख्यक वर्ग उस संघर्ष में विजयी होता आ रहा है। और इस देश में भी उसकी ही विजय की अस्फुट ध्वनि कानों में पड़ने लगी है। राजा-महाराजा चले गये, जमींदार और जागीरदार जाने को तैयार हैं और धनवानों के पक्ष में भी अच्छे आसार नजर नहीं आ रहे हैं। अतः धनवान भाइयों को दीर्घदृष्टि से आज विचार करना चाहिए और गरीबों के असन्तोष को मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए।

असन्तोष को दूर करने का तरीका क्या है? यह बात हमारे शास्त्र हजारों वर्ष पहले ही बतला चुके हैं। श्रीमत अपना हृदय उदार बनावें त्यागशील बनें, निर्धनों के प्रति आन्तरिक स्नेह रक्खें, समय पर उनकी सहायता करें, कोई भी ऐसा व्यवहार न करें, जिससे उन्हें अपनी हीनता मालूम पड़े, सब प्रकार से उन्हें साता पहुँचाने का प्रयत्न करें और धन की ही तरह विद्या, बुद्धि और श्रम का महत्त्व समझें तो बिगड़ती हुई परिस्थिति में कुछ सुधार हो सकता है।

देखो सनत्कुमार इन्द्र का पुण्य इतना प्रबल है कि उसके आते ही दोनों इन्द्रों की आँखें नीची हो जाती हैं और वे लड़ना बंद कर देते हैं। और-और काम सरल हैं, लेकिन पुण्य का उपार्जन करना कठिन है। पुण्य के फल भोगने की इच्छा सब को होती है, मगर उपार्जन करने की इच्छा विरले ही करते हैं। गेहूँ की रोटी खाना तो सब चाहते हैं लेकिन उन्हें उत्पन्न करना लाना, पीसना-पीसाना और रोटी बनाना सबको कठिन मालूम होता है। लेकिन जैसे मिहनत किये बिना रोटी नहीं मिलती उसी प्रकार पुण्य का उपार्जन किये बिना पुण्य का फल नहीं मिल

सकता। भोजन तो पैसे से खरीदा भी जा सकता है, मगर पुण्य पैसों से नहीं खरीदा जा सकता, उसके लिए तो पैसों की ममता उतारनी पड़ती है, त्याग करना पड़ता है और भावना को शुभ बनाना पड़ता है। करणी किये बिना काम नहीं चल सकता। कहा है—

> करनी बिना तो आगे नहीं सरसी,
> करनी बिना तो घणा फोड़ा परसी।
> आगे नहीं बेटा माय ने बापो,
> करो दान शील ने तप भावो॥

गांठ में एक भी रुपया लिये बिना, खाली हाथ हिलाते हुए, जैसे-तैसे चुपके चुपके रेलगाड़ी मे बैठ गये और चोरी से बम्बई भी पहुँच गये और उतर भी गये। लेकिन जब भूख लगेगी तो क्या करोगे? क्या हलवाई पैसे लिये बिना भोजन करा देगा? इसी प्रकार पुण्य रूपी पूंजी को साथ लिये बिना यहाँ से जाओगे तो परभव में क्या हालत होगी? भाई, आगे तेरे माँ बाप थोड़े ही बैठे हैं जो तेरी व्यवस्था कर देंगे! किसके भरोसे खाली हाथ जाने की इच्छा कर रहा है? वहां कौन तेरा आगत-स्वागत करेगा? वहां पूंजी के बिना काम नहीं चलेगा। फिर फोड़े पड़ेंगे बहुत कठिनाई उठानी पड़ेगी। इसलिए परलोक में अगर सुखी बनना है तो पूंजी साथ ले ले। वह पूंजी क्या है? दान, शील, तप और भावना की पूंजी है जिसके अभाव में तेरी पूछ होने वाली नहीं है।

हां लियो थे खाली थेलो, सुकृत को नहीं पास अधेलो ।
यहां से आगे जाय जीव तूं कांई करे लो रे ॥ टेर ॥

घोड़े को दाना देने के थैले के समान बड़ा-सा थैला हाथ में ले लिया, परन्तु उसमें सुकृत रूपी दाम नहीं है। वह खाली थैला है। कभी दान नहीं दिया, शील नहीं पाला, तपस्या भी नहीं की और न भगवान् का भजन किया। न जीवों की दया पाली और न गरीबों की कभी कोई तकलीफ मिटाई। न सामायिक की और न संतों का समागम किया। तब पुण्य कैसे उपार्जन करेगा? क्या तू यह मानता है कि आगे जाना नहीं पड़ेगा? यहीं बैठा रहेगा? भोले भाई, अनादिकाल से चले आ रहे इस ससार में एक से एक बढ़ कर शक्तिशाली लोग हो चुके हैं। ऐसे वीर बहादुर भी हो चुके हैं, जिनकी उंगली के इशारे पर बड़े बड़े सम्राट् भी नाचा करते थे, जो अपनी शक्ति के सामने किसी को कुछ भी नहीं समझते थे! पर आज उनमें से कौन दिखाई देता है? पट्खण्ड के स्वामी चक्रवर्त्ती और बलदेव तथा वासुदेव सब आयु समाप्त होने पर अपनी-अपनी राह लेते हैं! उन सबके सामने तू किस खेत का बथुआ है? जब वही नहीं रहे तो तू क्या रह सकेगा? अरे कौन नहीं जानता कि यह जिंदगी सदा कायम रहने वाली है? फिर भी कितने लोग अपने आगामी भव को सुधारने की चिन्ता करते हैं? पूर्वभव में उपार्जन किये हुए पुण्य के उदय से आज अनुकूल संयोग मिले हैं, परन्तु यह लापरवाह जीव उन्हें भोग-विलास में मस्त होकर ही गँवा रहा है। अज्ञानी जीवों की यह मूढ़ दशा देख कर ज्ञानी-पुरुषों का दयामय हृदय तड़प-तड़प कर रह जाता है।

अगर तुम्हें अपनी शक्ति का अभिमान है और सोचते हो कि मृत्यु सन्निकट आने पर डाक्टर को बुला लेंगे तो तुम भूल में हो। चार आदमी मिल कर 'राम नाम सत्य' कह कर नहीं ले जावें तो फिर मुझे याद करना! कोई कितना ही रखने की कोशिश क्यों न करे, आखिर जाना ही होगा। जब जाना ही होगा तो सुकृत क्यों नहीं करते? पुण्य का टिकट क्यों नहीं ले लेते? अगर तुम्हारी इच्छा न हो तो हमारे कहने से ही ले लो। हम जो कुछ कह रहे हैं, तुम्हारे हित के लिए ही कह रहे हैं। इस में अगर हमारा स्वार्थ जान पड़ता हो तो भले ही मत मानो। अगर तुम अपना हित समझते होओ मानो और जल्दी ही मान लो। अगर सुकृत का एक भी अधेला नहीं लोगे तो आगे का सफर सुखपूर्वक कैसे तय करोगे? उस समय बड़ी भारी मुसीबत में पड़ जाओगे।

बिन पूंजी परदेश सिधावे, भूखां मरे और पच्छतावे।
ऐसे धर्म बिन कैसे तेरो, काम चले लोरे ॥ १ ॥

पास में जो कुछ भी साधन नहीं लेता है और यों ही परदेश के लिए चल पड़ता है, वह भूखा मरता है और पछताता है। उस समय पछताने से भी तो कोई लाभ नहीं होता। इसी प्रकार यहां से मरने के बाद धर्म के बिना तेरा काम कैसे चलेगा? उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान् ने भी फर्माया है:—

एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छं तो सो दुही होई, वाहिरोगेहिं पीडिओ ॥

—श्री उत्तराध्ययनसूत्र, अ० १६ गा० १६

जो लोग धर्म का सेवन किये बिना ही परभव में जाएँगे, उन्हें सिवाय दुःख के सुख नहीं मिलेगा। वह नाना प्रकार की व्याधियों से और रोगों से पीड़ित होगा। उसे कोई फायदा नहीं होने का

फस्ट क्लास का डिब्बा चावे, बिना टिकट बाबू न बिठावे।
यूं बातां से स्वर्ग—मोक्ष तुझे नहीं मिले लो रे॥

अरे भाई! तू प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बैठना चाहता है, लेकिन उसका टिकट लेने के लिए पूंजी नहीं लगाना चाहता, तो बाबू तुझे कैसे बैठने देगा? इसी प्रकार तू स्वर्ग मोक्ष की लालसा करता है, परन्तु उनकी प्राप्ति के लिए पुण्य-धर्म करना नहीं चाहता, तो क्या सिर्फ बातें बनाने से ही तू वहां पहुँच जायगा? उसने यह किया, इसने वह किया, अमुक ऐसा है, फलां आदमी वैसा है, आदि-आदि गप्पें मारा करता है; कभी दस मिनट भी भगवान् के भजन मे नहीं व्यतीत करता! इसी प्रकार उधर बाइयां मिली चार और फिर बातों का लगा तार और वह भी बेकार! बाइयो! दूसरी की निन्दा और कुबढ़ाई करने से तुम्हारे हाथ क्या आ जायगा? इससे तुम्हें क्या मिलने वाला है? जिस मुंह से वृथा बातें करके पाप की पोटली बांध रही हो, उसी मुंह से तो भगवान् का भजन किया जा सकता है! जितना समय गप्पों में व्यतीत करती हो, उतने ही समय में तो धर्म-पुण्य का उपार्जन किया जा सकता है। यह बात समझ कर ही क्यों अहित-मार्ग पर चलने की सूझती है। आगे चल कर पछताने और हाय-हाय करने के लिए क्यों तैयारी करने की सूझती है? क्या मनुष्य

शरीर साधारण वस्तु है ? अरे, इसके लिए तो देवता भी तरसते हैं। बड़े तीव्र पुण्य से इसकी प्राप्ति होती है और फिर इसे तुम नीचे गिरने का कारण बना रहे हो ?

कर्मयोग मानव-तन पावे, रात दिवस क्यों कर्म कमावे।
आवागमन के चक्कर से, तूं नहीं बचे लो रे ॥

भाइयो! शुभ कर्मों के योग से, यह मनुष्य शरीर मिल गया है और इस के साथ साथ दूसरी सब अनुकूलताएँ भी मिल गई हैं। फिर भी तू रात और दिन पापों का उपार्जन किया करता है, पुण्य को ठोकरें मारता जा रहा है, धर्म की ओर ध्यान नहीं देता, जिसकी बदौलत आराम से जिदगी व्यतीत हो रही है और चैन की वशी बजा रहा है। जिसने उपकार किया हो उसी को ठोकर मारने वाले से अधिक कृतघ्न और कौन होगा? जिस दान-पुण्य ने तुझे मालदार बनाया है, आज उसी से बच कर रहना चाहता है ? सोचता है अरे किसी को कुछ देना न पड़े ? ऐसी भावना क्यों रखता है ? तेरे पास जो कुछ है, क्या उस सब को तू साथ लेता चला जायगा ? या इसी जीवन में भोग लेगा ? अरे, जाना तो तुझे खाली हाथ है, फिर क्यों संग्रह कर-करके धरता है ? उसमें से थोड़ा बहुत भी परलोक सुधारने के लिए नहीं लगा सकता ? दान-पुण्य का अवसर मिलने पर कृपणता क्यों करता है ? जिस पुण्य के प्रताप से तुझे धन सम्पदा मिली है, उस पुण्य के लिए वह सम्पदा लुटा कर देख तो सही कि उसके बदले तुझे क्या मिलता है ? सौ-गुनी और हजार गुनी सम्पदा चाहता हो तो पुण्य करने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। पुण्य का उदय न होगा तो जमीन मे गाड़ा हुआ

धन भी कोयला बन जायगा। न जाने किस रास्ते से तेरी सम्पत्ति, जिसे तू प्राणों के समान प्रिय समझता है, चलती बनेगी और तू हाय-हाय करता छाती पीटता रह जायगा !

एक राजा था। वह बड़ी भारी रियासत का स्वामी था, लेकिन उसके कोई लड़का नहीं था। किसी ने उसे सलाह दी-कोई योग्य लड़का देखकर गोद ले लो। पर उसे यह विचार पसंद नहीं आया। उसने कहा--यह राज्य प्रजा का है और मैं प्रजा का सेवक हूँ। मैं किसी को गोद नहीं लेना चाहता।

आखिर उसने प्रजा में से पांच सदस्य चुने। उनसे कह दिया-मेरी मृत्यु के वाद तुम लोग रियासत का इतजाम करना। तुम पांचों में जो पहले नंबर पर है उसे गद्दी पर बिठलाना। तीन वर्ष बाद उसे शहर से दूर, सुनसान जंगल मे छोड़ देना और वह वापिस शहर में न आने पावे! उसके बाद दूसरे नंबर के सदस्य को राजगद्दी पर बिठलाना और उसकी स्थानपूर्त्ति करने के लिए नया सदस्य प्रजा में से चुन लेना। इस प्रकार सारे कानून-कायदे बना कर एक दिन राजा मर गया। पहले नंबर का सदस्य राजा बना दिया गया। किसी ने कहा—तीन वर्ष बाद तेरी कम्बख्ती आयगी। उसने कहा—आगे जो होगा सो होगा, अभी तो मौज कर लेने दो! और सचमुच ही वह आगे की चिन्ता न करता हुआ मौज करने लगा।

आखिर क्षण-क्षण करते-करते तीन वर्ष व्यतीत हो गये। समय पूरा हुआ तो दूसरे लोगों ने कहा--हट जाइए। उसे राज-

गद्दी छोड़नी पड़ी और नाव पर चढ़ा कर लोगों ने उसे वियाबान जगल में छोड़ दिया। उसने बहुत कहा—मैं राजा नहीं रहूँगा, पर साधारण नागरिक की तरह मुझे यहीं रहने दो। पर किसी ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। वह जगल में पहुचकर पिछले मजा-मौज को याद करके झूरता है, रोता है।

उधर दूसरे नंबर का सदस्य राजगद्दी पर बैठ गया और उसकी जगह नया सदस्य चुन लिया गया। पहला सदस्य जंगल मे रो-रो कर मर गया। दूसरे की भी यही हालत हुई। तीसरा, चौथा और पाँचवां भी इसी प्रकार तीन तीन वर्ष मौज करके मर-खप गये। अब छठा गादी पर बैठा। उसने विचार किया—मैं भी तीन वर्ष के बाद गद्दी से उतार दिया जाऊँगा और मेरी भी वही दशा होगी जो पहले वालों की हुई है, क्योंकि इस राज्य का क़ायदा ही ऐसा है। अगर कोई ताले के अन्दर मर जायगा तो उसे ताला तोड़कर निकाला जायगा और फिर जगल में ले जाकर छोड़ दिया जायगा।

ओह! संसार कितना विषम है! जो जिसे प्राणों के समान प्रिय समझते हैं, वे भी हंस के उड़ जाने पर मृतक शरीर को आग के भेंट कर देते हैं। जिसने तुझे गोद मे खिलाया है वही तुझे राख की ढेरी बना देगा।

राजगद्दी के अधिकारी को तीन वर्ष बाद हटा दिया जाता था, इसी तरह सभी ससारी जीव तीन अवस्थाओं के बाद अर्थात् बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था के बाद इस दुनिया से हटा दिये जाते हैं। अगर कोई बदमाशी करे तो बीच ही में उसका टिकट कट जाता है।

हाँ तो छठे ने विचार किया—मेरी भी यही स्थिति होने वाली है। अतः राजगादी पर बैठते ही उसने कहा—अच्छा, अब हुक्म किसका चलेगा ? उत्तर मिला आपका।

'मैं कहूँगा, वही होगा न ?'

'हाँ, हुजूर वही होगा।'

'मेरे हुक्म में दलील तो नहीं की जायगी ?'

'नहीं हुजूर'

तब उसने कहा—तो नौका पर बैठकर मेरे साथ चलो। राजा का हुक्म सुनकर सब उसके साथ जंगल में पहुंचे। जंगल का अच्छी तरह निरीक्षण किया। एक अच्छी जगह पसंद करके आसपास तक सफाई करवाई गई। सफाई जब हो चुकी तो कारीगरों को हुक्म दिया गया कि एक बढ़िया बंगला बनाओ और उसके चारों तरफ बगीचा लगाओ। इतना सब काम हो चुकने पर जनता में घोषणा कर दी की जो वहां जाकर बसेगा, उसे अमुक इनाम दिया जायगा और यह-यह सुविधाएँ दी जाएँगी। खेती के लिए मुफ्त में जमीन दी जायगी। यह सब सुभीते पाकर लोग वहां जा-जाकर बसने लगे। तीन वर्ष पूरा होते-होते वहां एक अच्छा नया नगर बस गया।

कहो भाइयो, ऐसा करने वाला वह छठा आदमी अक्लमंद था या मूर्ख ? और आप सब क्या हैं ? उसने वर्त्तमान के मजा मौज में ही तीन वर्ष का समय नष्ट न करके आगे का विचार किया और अपने भविष्य को सुधार लिया। अब तीन वर्ष बाद

उसे वहां जाने में न शोक होगा, न चिन्ता होगी। वह पुराना मकान छोड़ कर खुशी-खुशी नये मकान में चला जायगा।

यही उदाहरण सब संसारी जीवों पर लागू होता है। तीन वर्ष की तरह तीन अवस्थाएँ व्यतीत हो जाने पर जिस जगह जाना अनिवार्य है, उसके लिए पहले से ही तैयारी कर रखना बुद्धिमत्ता है। जो वर्त्तमान के आमोद-प्रमोद में ही मस्त रहते हैं और आगे के लिए विचार ही नहीं करते या भविष्य की उपेक्षा करते हैं, उनकी दशा पहले वालों के समान होती है। वे जाते समय भी दुखी होते हैं और जाने के बाद भी दुखी होते हैं। मगर जो विवेकवान् पुरुष जाने का समय आने से पहले ही आगे की तैयारी कर रखता है, अर्थात् मृत्यु से पहले ही परलोक को सुधार लेते है, उसे मृत्यु के समय भी कोई चिन्ता नहीं होती और मृत्यु हो जाने के बाद भी किसी प्रकार का दुःख नहीं होता। वह शांति और सन्तोष के साथ शरीर का त्याग करके परलोक की ओर प्रयाण करता है। परलोक में भी सुखी होता है।

भाइयो! हमने तो सब तैयारी कर रक्खी है। हम छक्के-पजे सावधान है। हमे अपने लिए कोई चिन्ता नहीं है।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।

'लाखों वर्षों तक जीऊ या मृत्यु आज ही आ जावे।' हम प्रति-क्षण तैयार हैं। क्या तुम भी अपने विषय मे यही बात कह सकते हो? आप केवल वर्त्तमान में ही तो नहीं भूले हो? भवि-ष्य की तैयारी करली है? अगर नहीं की हो तो अब भी समय है। परलोक की ओर प्रयाण करने की कोई तिथि मिति निश्चित नहीं

है। मृत्यु पहले 'नोटिस' नहीं देती। वह अचानक ही आ धमकती है। इसलिए भगवान् ने कहा है—'समयं गोयम! मा पमायए' अर्थात् एक समय भी प्रमाद में मत गवाओ। भविष्य की ओर ध्यान दो अनन्तः 'तीन वर्ष' में तो उलट फेर होनें ही वाला है। यदि पहले न चेतोगे तो फिर याद करोगे।

एक सेठानी बड़ी मालदार थी। मोतियों के गजरे और गोखरू पहनती थी। मगर कभी कोई गरीब आ जाता और पड़ोसिन कहती कि सेठानीजी! इस गरीब को भी कुछ दो, तो वह कहती—चलो, हटो, हल्ला मत करो! क्या मेरे पति के पास मुफ्त में पैसा आता है जो मैं यों लुटा दू? तब पड़ोसिन ने कहा—आप माने या न मानें, मैं तो परोपकार के लिए और साथ ही आपकी भलाई के लिए कहती हूँ। तब सेठानी कहती—रहने भी दे तेरा परोपकार! मुझे ऐसी बातें नहीं सुहाती।

ऐसी अकड़ में थी वह गुलाबबाई! समझती थी कि वह सदा जिंदा रहने का पट्टा लिखा कर लाई है!

गर्मी की अधिकता के कारण एक रात सेठानी छत पर सोई। इससे उसे जुकाम हो गया। जुकाम में कुछ और बदपरहेजा हुई और तब डबल निमोनिया हो गया। डाक्टर पर डाक्टर आने लगे। मगर डाक्टरों के पास भी मौत की दवा नहीं होती। उसकी बिमारी बढ़ती गई और एक दिन वह नीलाम बोल गई।

पड़ोसिन बुढ़िया सोचने लगी—सेठानीजी तो गई पर साथ में क्या-क्या ले गई? खेद! लोग इस प्रश्न पर विचार क्यों नहीं करते?

सेठानी को जलाने में तो देर लगी, मगर सेठजी को सगाई करने में जरा भी देर न लगी। सेठ की दूसरी शादी हो गई। अब दूसरी पद्मिनी आ गई। वह पहली वाली के आभूषण पहन कर बैठी थी कि फिर एक मँगता आया। पड़ौसिन ने इस नई सेठानी से भी पहले की तरह गरीब को कुछ देने के लिए कहा और इस सेठानी ने भी पहले सेठानी के समान ही उत्तर दिया।

सयोगवश दूसरी सेठानी भी अकाल में ही मर गई और उसकी जगह तीसरी सेठानी आ गई। बुढ़िया ने उससे कहा--दो तो खाली हाथ चली गई हैं, अब आप ही कुछ कर लो। आगे का सामान जुटाना हो तो जुटा लो। मगर तीसरी भी पहले वालियों जैसी ही निकली। उसने भी उत्तर दे दिया—क्या मुफ्त में पैसा आता है? एक-एक पैसे के लिए मशक्कत उठानी पड़ती है। क्या मिहनत का पैसा लुटा देने के लिए है?

भाइयो! यह ससारी जीवों की हालत है। जो समझता न हो उसे समझाया जा सकता है, मगर जो समझ-बूझ कर भी ना समझी के काम करे उसके लिए क्या उपाय किया जाय? सभी जानते हैं कि अवश्य जाना है और खाली हाथ जाना है, परन्तु ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे अनन्त काल तक यहीं रहना है और फिर जाते समय सभी कुछ बटोर कर ले जाना है! ऐसे लोगों को किन शब्दों मे चेतावनी दी जाय? किस उपाय से इन्हें जगाया जाय? मैं कहता हूँ, प्रेरणा करके और भार देकर कहता हूँ कि उठो, प्रमाद न करो। भगवान् भी यही कह गये हैं--उट्ठए, नो पमायए।

धर्म और पुण्य उपार्जन करने के अनेक मार्ग हैं। दान दे सको तो अच्छी बात है, परोपकार कर सकते होओ तो भी खुशी की बात है। अगर यह सब कुछ नहीं कर सकते और पैसा नहीं छोड़ सकते तो बिना पैसा खर्च किये ही धर्म का आचरण करो। दो घड़ी सामायिक ही कर लिया करो। घड़ी भर शान्त और स्वस्थ चित्त होकर परमात्मा का नाम ही जपा करो। ऐसा करने से कौनसी जायदाद लुटी जाती है! इतना तो सभी कर सकते हैं। बूढ़ा हो या जवान, हिन्दू हो या मुसलमान, सभी परमात्मा का गुणानुवाद कर सकते हैं। अपनी भावना को पवित्र बनाने और पापाचरण से बचने में तुम्हारा क्या खर्च होता है? इससे तो एकान्त लाभ ही लाभ है। समय जा रहा है, उम्र बीती चली जाती है, जीवन का भरोसा नहीं है, और तुम बिना विचारे ही समय गँवा रहे हो! आगे कौन तुम्हारा पिता, भाई या रिश्तेदार बैठा है? किसके भरोसे निश्चिन्त हो रहे हो?

देखो, इस छठे राजा ने जंगल में सब ठाठ जमा लिया। सब काम जम गया। जब उसका समय पूरा हुआ तो उसने स्वयं कहा—आइए साहब! अब आप इस गादी पर बैठिये और मैं जाता हूँ। वह वहाँ से चल दिया तो उसे दूसरी रियासत तैयार मिली। अब आप पहले वाले पाँच को अक्लमंद समझते हो या इस छठे को? वे पाँचों मूर्ख थे या यह छठा मूर्ख है? निस्सन्देह आप पाँचों को मूर्ख और छठे को बुद्धिमान् कहेंगे। इसी प्रकार जो इसी जीवन में अगले जीवन की तयारी कर लेता है, वही बुद्धिमान् है और जो इस जीवन में आमोद-प्रमोद में

मस्त रहता है और अपने भविष्य की कोई तैयारी नहीं करता वह मूर्ख है।

जो ज्ञानवान् पुरुष पहले ही जागृत रह कर परलोक का सामान जुटा लेता है, उसे मृत्यु के अवसर किसी भी प्रकार का खेद या पश्चाताप नहीं होता वह शान्ति और समभावना के साथ शरीर का त्याग करता है। उसका मरण पण्डित मरण होता है। इसके विपरीत जो जीवन भर पापों का सेवन करता रहा है, उसे मृत्यु के समय घोर पश्चाताप होता है। वह पारलौकिक भय से कांपता है। सोचता है, मैंने ज्ञानीजनों का अनुकरण नहीं किया संतो की वाणी की परवाह नहीं की, शास्त्रों के आदेश की अवहेलना की और अपने विवेक की आवाज़ भी कभी नहीं सुनी। अब परलोक में मेरा क्या होगा ? पापी जीवों की जो दुर्दशा होती है, क्या वही दशा मेरी भी नहीं होगी ? इस प्रकार शोक और सन्ताप के साथ उसकी मृत्यु होती है। ऐसी मृत्यु को ही शास्त्रों मे बालमृत्यु या बाल मरण कहा है। इसलिए मैं तुम्हें सावधान करता हूँ कि अभी अवसर है चेत जाओ, सँभल जाओ और परलोक के कल्याण का भी कुछ काम कर लो।

दो हजार चार में आया, राताकोट में भजन बनाया।
चौथमल कहे शुद्ध श्रद्धा से जीव तिरोलो रे ॥

भाइयो ! सब से पहले अपनी श्रद्धा को शुद्ध-निर्मल बनाओ। अगर निर्मल श्रद्धा प्राप्त होगी तो आगे कदम बढ़ा सकोगे और वह कदम सही राह पर होगा। श्रद्धा के अभाव में आगे बढ़े भी तो अकल्याण के मार्ग पर ही बढ़ोगे और अधिक

हानि उठाओगे। दयापूर्वक तुम्हें रास्ता बतलाना मेरा काम है। उसे मानना या न मानना और उस पर चलना या न चलना आपकी मर्जी पर निर्भर है।

देखो उस छठे आदमी ने पहले प्रबंध कर लिया तो कितना आराम पाया? तुम भी अगर उसका अनुकरण करोगे तो आराम पाओगे। यह मत समझना कि महाराज वहां भी गोचरी के लिए आ जाएँगे। नहीं, हम तो गोचरी के लिए वहाँ नहीं आएगे, लेकिन तुम आराम पाओगे।

जो पुण्यशील हैं वे आहारदान दिये बिना भोजन नहीं करते। भाई, दाने-दाने पर मोहर लगी है। किसी के बाप की ताकत नहीं कि वह उसे खाने से रोक सके। जिसे जो कुछ भी इष्ट पदार्थ प्राप्त हो रहे हैं, वह उसके पुण्य के उदय से ही प्राप्त होते हैं। अतएवं पुण्य का उपार्जन करो और उस पुण्य के सहारे आत्मशुद्धि करके मुक्ति की ओर बढ़ो। खाली थैला रखना उचित नहीं है। जो गांठ की पूंजी उड़ा देता है और उससे नवीन पूंजी नहीं बनाता वह संसार में भी कपूत गिना जाता है। भाइयो! तुम वीतराग प्रभु की सन्तान हो। तुम्हें सपूत बनना चाहिए। पूर्वोपार्जित पूंजी को बढ़ाना चाहिए।

जम्बूकुमार की कथा—

जम्बूकुमार सच्चे सपूत थे। पूर्व जन्म में धर्म का आचरण करके उन्होंने अच्छी पूंजी जमा की थी। वर्त्तमान भव में वे उस पूंजी को बढ़ाने का संकल्प कर चुके हैं। उनकी तीसरी पत्नी पद्म-सेना ने रानी का उदाहरण देकर उन्हें बतलाया कि अगर आप

घर त्याग कर अनगार बनोगे तो आपकी दशा रानी के समान होगी।

पद्मसेना की बात सुन कर जम्बूकुमार ने कहा--वल्लभे ! तुम्हारी विचारधारा गलत दिशा की ओर बह रही है। रानी के उदाहरण से तुमने जो नतीजा निकाला, वह सही नहीं है। विचार करो कि रानी को कष्ट क्यों उठाना पड़ा ? रानी के समस्त सकटों और कष्टों का मुख्य कारण कामान्ध होना है। अगर रानी कामान्ध होकर अनीति के मार्ग पर न जाती तो आनन्दपूर्वक राजमहल में रह सकती थी। वास्तव में जो कामान्ध हो जाता है, उसे बहुत तकलीफें उठनी पड़ती हैं। पर मेरी दशा ऐसी क्यों होगी ? मैं तो कामान्ध होने के बदले कामों से सर्वथा विमुख ही होना चाहता हूँ। मैं कामभोग नहीं चाहता। भोग और जोग में पूर्व और पश्चिम जितना अन्तर है। भोगों की भयकरता को मै समझ गया हूँ मैं जानता हूँ कि इन्द्रियों के विपय विष के समान है जो मनुष्य की विवेक रूपी चेतना को नष्ट कर डालते हैं। लौकिक और लोकोत्तर जितने भी अनर्थ है, उन सब के मूल का पता लगाया जाय तो यह कामभोग ही हैं। अतएव पद्मसेना ! अगर तुम रानी के उदाहरण से सच्ची शिक्षा लेना चाहती हो तो यही शिक्षा लो कि दु.खों से बचने के लिए विपयभोगों की लालसा को तिलांजलि दे दी जाय। मगर तुम तो उसका निष्कर्ष गलत निकाल रही हो। रानी का उदाहरण देकर तुम मुझे भोगों मे प्रवृत्त करना चाहती हो। क्या तुमने कोई भी व्यक्ति ऐसा देखा या सुना है जो भोग भोगने के कारण अन्त मे सुखी हुआ हो ? भोगों मे सुख होता तो बड़े-बड़े राजा-महाराजा, अर्धचक्रवर्त्ती और चक्रवर्त्ती भी क्यों उनका त्याग करते ?

संयोग की बात है कि इस जीवन में तुम्हारा और हमारा संयोग हुआ है। इस संयोग के कारण मेरा कर्त्तव्य है कि मैं तुम्हें कल्याण के सच्चे मार्ग पर लाने का प्रयत्न करूं। देखो, जितने भी महापुरुष आज तक हुए हैं, वे सब भोगोपभोगों का त्याग करके ही महापुरुष बने हैं और उन सब ने उनके त्याग की ही प्रेरणा की है। मगर तुम मोह के कारण उलटी बात सोच रही है। यह तुम्हारे योग्य नहीं है।

एक बहुत सुन्दर गांव था। उसमें सभी जातियों के लोग रहते थे। गाव के बाहर एक तालाब था। तालाब के किनारे हरे-भरे वृक्ष खड़े थे। वहा दो ब्राह्मण-बालक, जो सगे भाई थे, गये। उन्होंने वहा पास ही मे किसी मालदार का बंगला देखा। उसमें एक सेठ रहता और मौज करता था। यह सब देख कर वे दोनों ब्राह्मण बालक रोने लगे। विचारने लगे कि यह पुण्य कमा कर आया है और हम लोग पुण्यहीन हैं।

बालक जब रो रहे थे तभी उधर से एक महात्मा निकले। उन्होंने उनसे रोने का कारण पूछा। उन बालकों ने कहा—हम ब्राह्मण के पुत्र हैं और अपनी पुण्यहीनता के लिए रो रहे हैं। पूर्व-जन्म में हमने पुण्य का कोई काम नहीं किया। देखिए न, इस बंगले में रहने वाला सेठ कितने मजे में है और हम दाने-दाने के लिए तरसते हैं।

महात्मा ने पूछा—तो तुम लोग अब क्या चाहते हो?

लड़के—अजी, हमारे चाहने से क्या होता है। हम तो राजा बनना चाहते हैं, पर चाहने मात्र से ही क्या राजा बन जाएंगे!

महात्मा बोले--अच्छा, मैं तुम्हें एक विद्या सिखलाता हूँ। उसके प्रभाव से तुम राजा बन जाओगे। लेकिन उस विद्या की साधना कठिन है। वह साधना यह है कि तुम दोनों को भंगी की लड़कियों से विवाह करना पड़ेगा। पिछली रात्रि में उन्हें नग्न करके सामने खड़ी करना होगा और विद्या की साधना करनी पड़ेगी। मगर छह महीने तक उनके साथ कोई बुरा काम मत करना। ऐसा करने से छह महीने बाद तुम राजा बन जाओगे।

ब्राह्मण-बालक राजा बनने के लिए उत्कंठित थे। उन्होंने महात्मा के कथनानुसार विद्या साधना स्वीकार कर लिया। तब उन्होंने वह विद्या उन्हें बतला दी। वे दोनों भंगियों के पास गये। किसी तरह कह-सुन कर उन्होंने उनकी लड़कियों से विवाह कर लिया। दूसरे दिन से महात्मा के निर्देश के अनुसार वे विद्या साधने लगे। लड़कियां नवयुवती थीं। उन्हें नग्नावस्था में, सामने खड़ी रख कर वे जाप करने लगे। उन्हें समझा दिया गया था कि छह महीने तक हम लोग ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे। फिर हम-तुम एक ही हैं। तुम्हारे साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहेगा।

साधना करते-करते पाँच महीना पूरे हो गये और छठा महीना लग गया। दोनों में से एक ने अपने मन को बहुत संयम मे रक्खा। किसी प्रकार का विकार मन मे नहीं आने दिया। छठा महीना पूर्ण होने पर उसने तालाब मे स्नान किया। उस समय कहीं का राजा मर गया था। कुछ सिपाही अचानक वहाँ आ पहुँचे और उसे पकड़ कर ले गये और वह राजा बना दिया गया।

उसके दूसरे भाई ने भी जप तो किया किन्तु लड़की के अंगोपांग देखकर उसके चित्त में विकार उत्पन्न हो गया। वह अपने मन पर काबू नहीं रख सका। अतएव उसकी साधना सफल नहीं हुई। वह बीच ही में विद्या साधना छोड़कर भोग-विलास में फस गया। नतीजा यह हुआ कि उसे राज्य नहीं मिला, इतना ही नहीं दुनिया में उसकी निन्दा भी हुई।

जैसा डाक्टर कहे वैसा परहेज रखना पड़ता है। जो नहीं रखता उसके कर्म फूट जाते हैं। मगर लोग इन्द्रियों के गुलाम हैं। वे इन्द्रियलोलुपता के अधीन होकर डाक्टर के कथन का भी अर्थ अपनी मंशा के माफिक लगा लेते हैं। जैसे डाक्टर ने कहा—देखो, याद रखना रायता मत खाना। रोगी डाक्टर की बात सुनकर घर पर आया और देखता है कि रायता बना है। उसकी जीभ से लार टपकने लगती है और वह खाने को तैयार हो जाता है। घर वाले उसे समझाते हैं—बीमारी दूर करने के लिए पथ्य का पालन करना आवश्यक है। डाक्टर ने जो कहा है, उसको मानो। रायता मत खाओ। रोगी कहता है- डाक्टर ने कहा है—'याद रखना रायता मत खाना।' ऐसे कहने से खाने की मनाई कैसे हो गई ? डाक्टर के शब्दों का अर्थ तो सिर्फ यह है कि न खाने की बात याद रखी जाय। सो वह तो रायता खाते-खाते भी रक्खी जा सकती है। मैं रायता खाता जाऊंगा और न खाने की याद भी रक्खे रहूँगा।

मैं कहता हूँ—याद रखना पाप का आचरण न करना। तुम यह सुनकर 'तहत्त' कह देते हो, परन्तु पाप करते जाते हो और कहते हो पाप न करने की बात याद रखनी है सो तो याद ही है !

भाइयो ! डाक्टर के कथन की अवहेलना करने वाला अपने ही पैर पर कुल्हाड़ा चलाता है। वह डॉक्टर को नहीं, अपनी आत्मा को धोखा देता है इससे डाक्टर की नहीं, उसकी ही हानि होती है । इसी प्रकार संतों की वाणी का अर्थ का अनर्थ करने से संतों का कुछ बिगड़ता नहीं है। हानि तुम्हारी ही होगी। जो अपनी आत्मा के साथ कपट करेगा, वही दुखी होगा। उसकी भी उस दूसरे लड़के के समान लोकनिन्दा होगी।

हाँ, तो जम्बूकुमार कहते हैं—जो भोगों में आसक्त होगा, उसको ही दुख और संकट झेलने पड़ेंगे। मै भोगों में अनुरक्त नहीं हूँ। भोग को रोग समझने वाला विवेकवान् व्यक्ति भोगों मे आसक्त ही कैसे हो सकता है ? तुम अपना हित चाहती हो तो तुम भी अन्तःकरण से विचार करो। अपनी अन्तरात्मा से पूछो कि सुख कहाँ है ? आत्मा में है या भोगोपभोगों में ? कुत्ता समझता है कि वह जिस हड्डी को चूस रहा है उसमें से खून आ रहा है। उस बेचारे को क्या पता कि जिस खून को वह हड्डी में समझ रहा है, वह तो उसका अपना ही है ? इसी भाँति विषयासक्त जीव भोगों मे सुख की कल्पना करता है, जब कि सुख आत्मा में ही है। मुर्दे के मुंह मे षट्रस भोजन डाल दो तो क्या वह उसका रसास्वादन करके सुख प्राप्त कर सकेगा ? कदापि नहीं।

जम्बूजी कहते हैं—गुरु महाराज ने नमस्कारमंत्र दिया है और कहा है कि इसे सिद्ध करने से चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव बन जाओगे और अन्ततः मोक्ष भी प्राप्त कर लोगे। मगर उसकी साधना की भी एक विधि है। इस मंत्र की साधना करने वाले

मांस मदिरा का सेवन न करे, हिंसा, असत्यभाषण, चोरी और व्यभिचार न करे। रात्रि में भोजन न करे। नीति की मर्यादा का उल्लंघन न करे। सन्तोषमय जीवन वितावे।

नमस्कारमंत्र सभी मंत्रों में उत्तम है। उसके प्रभाव से समस्त पापों का विनाश हो जाता है। वह परम कल्याणकारी है। उसे ऋषिगण चौदह पूर्वों का सार बतलाते हैं। कहा है--

सब मंत्रों में नवकार मंत्र, यह मंत्र मोक्ष का दाता है।
इसके गुण का जब मनन करे, तब चमत्कार प्रगता है॥

भाइयो! यह सर्वश्रेष्ठ चामत्कारिक मंत्र है। अगर इसके गुणों को समझना चाहते हो तो इसके अर्थ पर विचार करो। गहरे उतर कर मनन और चिन्तन करो। स्वच्छ चित्त से उसका ध्यान करो। यह मुनियों के लिए भी मंगलमय है और गृहस्थों के लिए भी मंगलमय है। इस महामंत्र का जाप सब प्रकार के दुःखों का अन्त करने वाला है।

एक बार यमुना में पूर आ गया। किनारे पर कृष्णजी और गोपियां खड़ी थीं और दूसरे पार जाना चाहती थीं। तब कृष्णजी ने कहा—तुम ऐसे पुरुष का नाम लेकर परले पार जा सकती हो, जिसने मन, वचन, काय से कभी परस्त्री की चाह भी न की हो। गोपियां चिन्ता में पड़ गई कि ऐसा कौन पुरुष है, जिसका नाम लेकर पूर वाली यमुना को पार कर लें? आखिर उन्होंने आपस में विचार करके कृष्णजी का ही नाम लेने का निर्णय किया। कृष्णजी ने कहा—तुम चाहो तो मेरा नाम ले सकती हो। अगर मैंने अपनी विवाहिता पत्नियों के अतिरिक्त, दूसरी स्त्री की

स्वप्न मे भी कामना न कि होगी तो अवश्य पार पहुँच जाओगी। अगर मेरे मन में परस्त्री का पाप जागा होगा तो तुम डूब जाओगी।

गोपिकाएँ कृष्णजी पर भरोसा रखकर यमुना में कूद पड़ी और सबकी सब पार लग गई।

इस वृत्तान्त से हम कृष्णजी के व्यक्तित्व को पहचान सकते हैं। ऐसे वृत्तान्त कृष्णजी की जीवनी की कसौटी हैं। खेद है कि कई लोगों ने कृष्णजी के चरित को अत्यन्त मलिन रूप में उपस्थित किया है। वे झूठ-मूठ ही कहते हैं कि उन्होंने गोपियों के साथ यों किया और त्यों किया। वास्तव में कृष्ण का चरित्र उज्ज्वल था। वे मर्यादा पुरुषोत्तम थे। लोगों ने अपनी कुत्सित वासनाओं की पूर्ति के लिए ही कृष्णजी जैसे महापुरुष को बदनाम कर डाला है। भागवत में गोपियों के चीरहरण की बात आती है। स्नान करती हुई गोपियों के वस्त्र उन्होंने उठा लिए और वृक्ष पर चढ़ गये। लोग समझते हैं, उन्होंने आनन्द और विनोद के लिए ऐसा किया। वे गोपियों को नग्न देखकर आनन्द का अनुभव करना चाहते थे और इसी कारण ऐसी हरकतें करते थे। परन्तु बात यह है कि वे गोपियों मे प्रचलित गदी रूढ़ि को मिटाना चाहते थे। उस समय जो गोपियां नग्न होकर स्नान करती थीं और यह बात कृष्णजी को अच्छी नहीं लगती थी। उन्होंने उनके वस्त्र उठाकर उनसे कहा कि अगर तुम आयदा नग्न होकर स्नान न करने की प्रतिज्ञा करो तो मैं तुम्हारे वस्त्र लौटा सकता हूँ। मगर जिनका चित्त दुर्वासनाओं से ग्रस्त है और जो धर्मात्मा कहलाते हुए भी अपनी वासना की पूर्ति करना चाहते हैं ऐसे लोग जो न कहें या न करे सो थोड़ा है! उन्होंने कृष्णजी के चरित्र की आड़ लेकर कैसे-कैसे

दुराचार सेवन किये है, यह बात इतिहास जानने वाले ही जानते हैं।

कृष्णजी अपने समय के सब से अधिक प्रतिष्ठित और प्रभावशाली पुरुष थे। ऐसी प्रतिष्ठा क्या किसी भी दुराचारी को प्राप्त हो सकती है ? हर्गिज नहीं। स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं की जा सकती कि कृष्णजी की भावना में मलिनता थी। उनके एक लड़के ने जरा-सी चालाकी कर दी तो उसे द्वारिका नगरी से ही उन्होंने निकाल दिया ! इस प्रकार का साहस क्या कभी ऐसा व्यक्ति कर सकता है जो स्वयं दुराचार का अड्डा बना रहा हो ? अगर कृष्ण में ऐसी कमजोरी होती तो दूसरे के दुराचार के विरोध मे उनका मुंह ही न खुलता ! अगर खुलता भी तो लोग, और खास तौर से उनके विरोधी लोग क्या चुप्पी साध सकते थे ? नहीं। अतएव समझना चाहिए कि गोपिकाओं को लेकर कृष्णजी के सम्बन्ध में जो बातें कही जाती हैं, उनमें कोई तथ्य नहीं है। गोपियों के साथ उनका सबंध एकदम वासनाहीन और पवित्र था।

कहने का आशय यह है कि जैसे कृष्णजी परस्त्री सेवन के त्यागी थे, उसी प्रकार परस्त्री का त्याग करने वाला पुरुष ही नवकार महामत्र की साधना में सफल हो सकता है यह मंत्र सर्वोपरि है।

जम्बूकुमार ने पद्मसेना से कहा—मेरे धर्मगुरु ने मुझे नवकारमंत्र दिया है। यह मंत्र सकल संकटों को काटने वाला है; समस्त प्रकार की सिद्धियों का खजाना है, सब सुखों को प्रदान करने वाला है। तुम चाहो तो इसका सहारा लो। विषयभोगों से विरत होओ। जिन भोगोपभोगों को भोगते-भोगते अनन्त

काल बीत जाने पर भी आज तक तृप्ति नहीं हुई, उनसे अब क्या तृप्ति होगी ? भोगविलास तो आत्मा की उज्ज्वलता को नष्ट करने वाले, आत्मा को मलिन बनाने वाले, सच्चे सुख के विरोधी और दुःखों के मूल हैं। मैंने इनका यथार्थ स्वरूप समझ लिया है। जैसे काले साँप को देख लेने वाला पुरुष उससे दूर ही रहता है, उसी प्रकार मैं भोग रूपी भुजंगम से दूर ही रहना चाहता हूँ और यह भी चाहता हूँ कि तुम सब भी इस सचाई को समझो और अपने सच्चे कर्त्तव्य का पालन करो।

पद्मसेना! मेरा निश्चय अटल है। उसमें अब कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता। मैंने जिस मार्ग पर चलना तय कर लिया है, उसे छोड़ कर दूसरे मार्ग पर नहीं चल सकता। कल्याण का पथ मैंने जान लिया है। अब जान बूझ कर अकल्याण के पथ पर कैसे कदम रक्खूं ?

इन पौद्गलिक सुखों की वास्तविकता का विचार करोगी तुम सहज ही मेरी बात को समझ जाओगी। यह कितने क्षण-भगुर हैं! इनको भोगने का परिणाम कितना दारुण है! यह आत्मा के प्रबल वैरी हैं। यह समझ कर मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं इनसे विमुख होकर आत्मिक सुख की खोज करूँगा और ध्यानारूढ़ होकर सहजानन्द मे रमण करूँगा। निरंजन निराकार पद को प्राप्त करने का यही एक मात्र मार्ग है। अगर तुम्हारी विवेक-बुद्धि जागृत हो तो मेरी बात पर विचार करो और शांति-सच्ची शांति प्राप्त करने का तुम भी उपाय करो। ऐसा करने से आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

ता० १६-६-४८

उज्ज्वल भावना

स्तुतिः—

मन्दार सुन्दर नमेरु सुपारिजात-
सन्तानकादि कुसुमोत्कर वृष्टि रुद्धा।
गंधोद विन्दु शुभमन्दमरुत्प्रयाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहां तक स्तुति की जाय? भगवन्! आपके गुण कहां तक गाये जाएं?

भाइयो! तीर्थंकर भगवान् के प्रबल पुण्य का वर्णन कहाँ तक किया जाय? एक तो क्या हजार जिह्वाओं से भी उस

पुण्य का वर्णन नहीं हो सकता। भला उस वैभव का क्या वर्णन किया जाय, जो तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से प्राप्त होता है? इन्द्र जिनके दास हों उनके पुण्यप्रभाव का वर्णन करना साधारण मनुष्य के वश की बात नहीं है। तीर्थंकर देव जब समवसरण में विराजमान होकर धर्मोपदेश देते हैं तब मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात और सन्तानक आदि दिव्य वृक्षों के फूलों के समान अचित पुष्पों की वर्षा होती है। सुगन्धित गन्धोदक की वृष्टि होती है। शीतल, मन्द और सुगधित वायु बहती है। ऐसे सुन्दर, सुखद और प्रसादपूर्ण वातावरण में भगवान् की दिव्यध्वनि होती है। यह भी भगवान् का एक प्रातिहार्य है। जिन्हें आत्मिक अनन्त वैभव के साथ यह अनुपम वैभव प्राप्त है, ऐसे भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार है।

देवगण आकाश से जो पुष्प वृष्टि करते हैं, उन पुष्पों का वर्ण एकदम निर्मल और धवल होता है। शरदऋतु के चन्द्रमा के समान सफेद रंग के फूलों से क्या शिक्षा मिलती है, इस पर आप विचार कीजिए। फूल तो संसार में सभी रगों के होते हैं। कोई लाल, कोई नीला, कोई पीला, कोई हरा और कोई काला होता है। मगर देवता सफेद रग के फूल ही बरसाते हैं। इसका कारण क्या है?

स्वच्छ और श्वेत वर्ण के फूल जगत् को मानों यह संदेश देते हैं कि हे जगत् के जीवों! तुम अपना हृदय भी ऐसा ही निर्मल और स्वच्छ बनाओ। भगवान् को जो उज्ज्वल वैभव प्राप्त हुआ है, वह उनके शुक्ल ध्यान का तथा शुक्ल लेश्या का ही परिणाम है। प्रभु ने अचल शुक्ल ध्यान का सेवन किया और शुक्ल लेश्या

को धारण किया इसी कारण शुक्लवर्ण के पुष्पों की वर्षा हो रही है। अन्तःकरण में से जब सारी मलीनता हट जाती है, पापों की कालिमा दूर हो जाती है, विचार शुद्ध हो जाते हैं तो अशुद्ध कर्मों का संचय नहीं होता अशुभ कर्मों का बंध नहीं होता। यही नहीं, शनैः-शनैः आत्मा कि कालिमा धुलती चली जाती है और आत्मा में स्वच्छता बढ़ती जाती है।

मन की क्रिया रुकती नहीं है। किसी न किसी विषय का वह चिन्तन करता ही रहता है ऐसी स्थिति में विवेकशील व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने मन की गति को स्वच्छता की ओर मोड़े। जब कभी अशुद्ध विचार मन में आने लगे तो उसी समय सावधान होकर उन्हें दूर कर दे और शुभ विचारों में उसे उलझा रक्खे। यों करते-करते मन वश में हो जायगा और फिर गंदे विचारों की ओर उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इसके लिए साधना की आवश्यकता है। सदैव जागरूक रहने की जरूरत है, मन की चौकीदारी करते रहना चाहिए। अगर थोड़ी सी देर के लिए भी गफलत में पड़ गये तो मन गंदे और मलिन विचारों की ओर भाग जायगा और तुम्हारी साधना असफल हो जायगी।

जब हम कहते हैं कि अपने मन को वशीभूत करने का निरन्तर प्रयास करते रहो तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि अपने कायिक एवं वाचनिक व्यापार की ओर ध्यान ही न दो। मन, वचन और काय का आपस में बहुत घनिष्ठ संबंध है। मन के विचारों का प्रभाव वचन और काय पर पड़े बिना नहीं रहता और इसी तरह वचन तथा काय के व्यापारों का असर मन पर अवश्य पड़ता है! इसीलिए भगवान् ने यह बतलाया है कि मन,

वचन और तन से जो त्याग किया जाता है, वही त्याग पूर्ण होता है।

मान लीजिए, कोई मनुष्य वचन और काय से किसी पाप का परित्याग करता है, पर मन से नहीं करता। उसका मन उस पाप में डूबा रहता है। तो क्या उसका वह त्याग सफल और लाभदायक होगा ? जिसकी मनोभावना पापमय है, जिसके विचार विकार से भरे हैं, वह घोर पाप का भागी अवश्य होता है, चाहे वह वचन और काय से पाप भले ही न करता हो !

इसी प्रकार अगर कोई यह संकल्प करे कि मैं मन से पाप नहीं करूँगा, काय और वचन से पापों का सेवन करने की छूट रखता हूँ। तो ऐसा करने वाले व्यक्ति को आप क्या कहेंगे ? जो कहता है कि मैं मन से पाप नहीं करता, सिर्फ वचन और काय से ही पाप करता हूँ, मेरा मन निष्पाप है, पवित्र है, उसे आप क्या ढोंगी और झूठा नहीं समझेंगे ? निस्सन्देह उसे ऐसा ही समझना पड़ेगा। अगर उसका मन पाप में नहीं होगा तो वह वचन और काय से पाप क्यों करेगा ? मानसिक पवित्रता के नाम पर भारतवर्ष में, प्राचीन काल में, न जाने कितने अनर्थ हुए हैं ! न मालूम कितने अनाचार, दुराचार और लोमहर्षक कांड हुए हैं। वस्तुत: मन, वचन और काय की त्रिपुटी है। जो वचन और काय से पाप का त्याग करना चाहता है उसे मन से भी पाप का त्याग करना चाहिए और जो मन से पाप का त्याग करना चाहता है, उसे वचन और काय से भी पाप का परित्याग करना चाहिए।

भाइयो ! क्रिया पवित्र होगी तो ही विचार पवित्र हो सकेंगे। यह लड़ता है तो मैं क्यों लड़ूं ? यह मूर्ख है तो मैं क्यों

मूर्ख बनूं ? मूर्खता का मुकाबिला मूर्खता से क्यों किया जाय ? इस प्रकार के विचार शुद्ध हैं। इसी प्रकार जहां कहीं चलने का काम पड़े, बिना देखे-भाले मत चलो। इस बात का ध्यान रखो कि मेरे चलने से किसी जीव को किसी किस्म का कष्ट न हो। यह विचार उज्ज्वल है। कभी कोई चीज फैंकनी हो तो भी ध्यान रक्खो, यतना रक्खो। बिना ठीक तरह देखे मत फैंको, जिससे किसी के ऊपर न गिर जाय। देख कर न फैंकोगे तो लड़ाई हो जायगी, किसी के कपड़े बिगड़ जाएँगे। इसी प्रकार जो भी दूसरी क्रियाएँ करो, यतना का ध्यान रक्खो। भगवान् फरमाते हैं.—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
जयं भुंजंतो भासन्तो, पावं कम्मं न बंधई ॥

अर्थात्—यतनापूर्वक चलो, यतनापूर्वक ठहरो, यतनापूर्वक बैठो और यतनापूर्वक ही शयन करो। यतना के साथ जीमने वाला और यतना के साथ भाषण करने वाला पाप-कर्म का बंध नहीं करता है।

इस प्रकार प्रत्येक क्रिया करते समय उज्ज्वल भावना होनी चाहिए। देखो, काले रंग की चीज का देवता भी आहार करना पसंद नहीं करते। वे केसरिया या सफेद रंग ही पसद करते हैं।

इस कथन का आशय कोई यह न समझ ले कि भक्त लोग देवता के निमित्त जो चढ़ावा चढ़ाते हैं, या आहुति देते हैं, उसे वह देवता मनुष्यों की भांति खा लेता है या पी लेता है। नहीं;

ऐसा नहीं है। देवता अपने अवधिज्ञान से सिर्फ भक्त की भावना को ही देख-जान लेते हैं और भावना से ही सन्तुष्ट होते हैं। यहां रंग पसंद करने की बात भी इसी आशय से कही गई है। प्रत्येक व्यक्ति को उज्ज्वल और पवित्र विचार रखने चाहिए। विचारों मे पवित्रता लाने के लिए और साथ ही एक बार उत्पन्न हुई पवित्रता को टिकाये रखने के साधन अनेक हो सकते हैं। अपनी अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार उन साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। उन साधनों में एक प्रभावशाली साधन आदर्श महात्माओं के जीवन चरितों का पठन पाठन भी है। जिन महात्माओं ने जीवन की पावनता प्राप्त करके 'महात्मा' पद प्राप्त किया है, उनके चरित का चिन्तन-मनन करने से दूसरों को भी यथार्थ पथ का परिज्ञान होता है। उदाहरण के लिए धर्मरुचिजी अनगार को ले लो। उनका चरित कितना महान् और अलौकिक है। उसमें उच्च से उच्च श्रेणी का त्याग, अनुकम्पा और समभाव भरा हुआ है। जो व्यक्ति एक बार भी उस महान् चरित का अध्ययन करेगा, उसके चित्त में दया का उद्रेक हुए बिना नहीं रहेगा।

धर्मरुचि अनगार का वर्णन ज्ञातासूत्र में आता है। वे धर्मघोष आचार्य के शिष्य थे। एक बार धर्मघोष आचार्य अपनी शिष्य-मडली के साथ विचरते-विचरते चम्पा नगरी के बाहरी भाग में स्थित बाग में पधारे और ज्ञान ध्यान करने लगे। उनके साथ कई चेले थे। कोई एकान्तर तप करता था और कोई दूसरे प्रकार के तप का अनुष्ठान करता था। उन्हीं में एक महामुनि धर्मरुचिजी थे जो मासखमण की तपस्या किया करते थे। एक

महीना उपवास करने के पश्चात् एक दिन, एक बार ही आहार लेते थे और फिर एक महीना तक उपवास करते थे।

भाइयो! उपवास करना साधुओं के लिए खास तौर पर आवश्यक है। भगवान् ने उपवास की तपस्या को महत्त्व देने के लिए वाह्य तपों में अनशन तप को सब से पहले गिना है। गृहस्थों के लिए भी अष्टमी, चतुर्दशी और पक्खी के दिन उपवास करने का विधान है। अनशन करने से आत्मा की शुद्धि होती है। कर्मों की निर्जरा होती है, इन्द्रियाँ वश में हो जाती है, मन पर काबू प्राप्त किया जा सकता है, ज्ञान-ध्यान में होने वाले प्रमाद को दूर किया जा सकता है। इन सब लाभों को ध्यान में रख कर भगवान् तीर्थंकर ने अनशन तप पर विशेष रूप से बल दिया है। चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने अपने साधक जीवन में घोर तपस्या की थी। आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने भी छह महीने की तपस्या की थी। यह सब उदाहरण हमारे लिए पथ-प्रदर्शक होने चाहिए। गीता में भी अनशन की महिमा बखानी गई है। उसमें अनशन तप को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। यह भी कहा है—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

अर्थात् जो प्राणी आहार का त्याग कर देता है अर्थात् अनशन तप करता है, उसकी इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं और विषय विकार का विनाश हो जाता है।

अनशन की उपयोगिता धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से तो निर्विवाद है ही और इसी कारण प्रायः सभी धर्मों में उपवास

की न्यूनाधिक महत्ता स्वीकार की गई है, परन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अनशन कम उपयोगी नहीं है। आयुर्वेद शास्त्र का विधान है—

ज्वरादौ लङ्घनं पथ्यम्।

मनुष्य को जब ज्वर चढ़े तो प्रारंभ में लंघन करना उसके लिए हितकारी होता है। यह भारतीय चिकित्साशास्त्र का विधान है। आजकल के डाक्टरों ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। अमेरिका में तो उपवासचिकित्सापद्धति नामक एक चिकित्सापद्धति ही प्रचलित हुई है।

इन सब बातों के अतिरिक्त आज भारतवर्ष की जो स्थिति है, उसमें उपवास की प्रणाली इतनी अधिक अवश्यक है जितनी पहले कभी नहीं थी। भारतवर्ष में आज अन्न का सकट एक गंभीर संकट है। इस संकट का रूप इतना उग्र और भयानक है कि देशहित की अनेक उपयोगी योजनाएँ इसके सामने समाप्त हो जाती हैं। शासक परेशान हैं और जनता भी परेशान है। देश का बहुत-सा द्रव्य दूर विदेशों से अन्न मगाने में व्यय हो रहा है और इस कारण देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ती चली जा रही है। ऐसी स्थिति में अगर भारतवर्ष भगवान् महावीर के बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करे और प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिमास दो चार, या छह उपवास करना आरंभ कर दे तो अन्न की समस्या के सुलझाने में बड़ी सहायता मिल सकती है। ऐसा करने से देश की जनता के स्वास्थ्य में भी आश्चर्यजनक सुधार होगा।

मतलब यह है कि किसी भी दृष्टिकोण से देखिए, अनशन का महत्त्व कम नहीं है, यही कारण है कि जैन परम्परा में अनशन की प्रणाली आज तक चली आ रही है। जैन मुनि लम्बे-लम्बे अनशन करते हैं, साध्वियां भी करती हैं और श्रावक-श्राविकासघ भी।

धर्मरुचिजी अनगार की तपस्या साधारण नहीं थी। एक मास में सिर्फ एक दिन और एक वार ही भोजन करना और लम्बे समय तक इस प्रकार की तपस्या को चालू रखना मामूली चीज नहीं है। इसके लिए उत्कृष्ट और उत्कट आत्मबल की आवश्यकता है। जो महर्षि आध्यात्मिकता की उच्चतर भूमिका पर पहुँच चुके हैं, जो शरीर में रहते हुए भी शरीर से भिन्न आत्मा की अनुभूति करने लगते हैं, जो आत्मानन्द के गहरे सरोवर में स्नान करते हैं, जिनका देहाध्यास नष्ट हो चुका है, वही इतनी उग्र तपस्या कर सकते हैं। शरीर के दास, इन्द्रियों के गुलाम और अन्न के कीड़े तो एक भी अन्न का त्याग नहीं करते।

साधुता किस उद्देश्य से अंगीकार की जाती है? साधु-अवस्था का आदर्श आत्मा को तारता है। आत्मा को तारने का अर्थ है-आत्मा को विकारविहीन बनाना, शुद्ध अवस्था में लाना। जो खाने पर कमर बांध लेगा वह अपने आपको कैसे तार सकेगा? कहा है—

बाग विगाड़े बांदरा, सभा विगाड़े कूर।
भेष विगाड़े लोलुपी, जाके मुंडे धूर॥

बंदर बगीचे में जा पहुँचता है तो वह सारे बगीचे को उजाड़ देता है, सभा भरी हुई हो और उसमें कोई कूर-क्रूर असभ्य

आदमी पहुँच जाय तो सभा को बिगाड़ देता है। इसी प्रकार यदि कोई साधु जीभ का चटोरा हो तो वह साधु के भेष को बिगाड़ देता है, उस वेष की बदनामी कराता है। वास्तव में वह साधु नहीं, गृहस्थ है और उसे भला गृहस्थ भी नहीं कहा जा सकता। जो खाने-पीने में लोलुप हो जाता है, वह योग की साधना नहीं कर सकता।

धर्मरुचिजी के पारणा का दिन आया। पारणा के दिन वे प्रात.काल होते ही भोजन लेने नहीं चल दिये। उन्होंने पहले पहर में स्वाध्याय किया और दूसरे पहर मे ध्यान किया। जब तीसरा पहर लगा तो मुँहपत्ती की प्रतिलेखना की, पात्रों और झोली को संभाला-प्रतिलेखना की और फिर गुरुजी के पास पहुँचे। तीन बार वन्दना करके गुरुजी से निवेदन किया—आपकी आज्ञा हो तो मैं जाऊँ और प्रासुक आहार लाकर पारणा करूँ ?

गुरु महाराज बोले—हे पुण्यवान् शिष्य ! सुखे-सुखे जाओ और आहार लाकर शरीर को भाड़ा दो।

गुरुजी की आज्ञा पाकर धर्मरुचि महाराज मध्यम चाल से नगर की ओर चले। एक महीने के उपवासी होने पर भी भोजन के लिए वे इतने उत्कंठित नहीं थे कि जल्दी-जल्दी भागते जाते। वे साधारण गति से जारहे थे। भगवान् ने फर्माया है—

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो अ गोयरे।
हसन्तो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया॥

—दशवैकालिक, अ० ५, गा० १४

दशवैकालिकसूत्र में बतलाया गया है कि साधु को जल्दी-जल्दी नहीं चलना चाहिए। साधु आगे की चार हाथ भूमि को देखता-देखता और चिउंटी आदि जीव-जन्तुओं को बचाता हुआ चले। यह नहीं कि कब लाऊँ और कब खाऊँ, यह सोचकर घोड़े की तरह दौड़ता जाय।

साधु को चलते-चलते बातें नहीं करनी चाहिए। बातें करते-करते चलने से रास्ते पर नजर नहीं रहती और इस कारण ईर्यासमिति में दोष लगता है। हँसते हुए भी नहीं चलना चाहिए। हँसी-मजाक करते हुए चलने से गौरव की क्षति होती है और जिन शासन की लघुता दीखती है।

साधु को आहार के लिए उच्च कुलों में भी जाना चाहिए और नीच कुलों में भी जाना चाहिए, अर्थात् धनवान् गृहस्थों के घर भी जाना चाहिए तथा निर्धनों के घर भी जाना चाहिए। दातार अनेक प्रकार के होते हैं—कोई धन से भी ऊंचा और दान देने की भावना से भी ऊचा होता है, कोई धन से ऊंचा मगर मन से नीचा होता है, अर्थात् धनाढ्य होते हुए भी दान देने की भावना से रहित होता है। पास में पैसा बहुत है पर गुलाबबाई का बहराने के लिए हाथ नहीं चलता, ऐसी महिलाए भी देखी जाती है इसके विपरीत कोई धन से नीचा किन्तु मन से ऊंचा होता है। घर में अधिक नहीं है किन्तु दान देने की भावना इतनी प्रबल होती है कि कहा नहीं जा सकता। मालवा में खाचरोद एक गांव है। विक्रम संवत् १९६२ की बात हैं। वहाँ एक सेठ रहता था। उसके पास सिर्फ चार-पाँच हजार की जायदाद थी। शरीर से भी वह—हृष्ट-पुष्ट था और प्रतिदिन पाँच

सामायिक करता था। उसके घर साधु गोचरी के लिए जाते तो वह धन्ना सेठ कहा करता—महाराज रोटी तो ज्यादा नहीं है, घी दूध खूब लीजिए। वह गायें और भैंसें रखता था। दान देने के उसके भाव बहुत ऊँचे रहते थे। कहा है:—

देतो भावे भावना, लेतो करे सन्तोष।
वीर कहे रे गोयमा! दोनों जावे मोक्ष॥

भगवान् ने दाता और पात्र दोनों के कर्त्तव्य का कथन कर दिया है। देने वाले को ऊँची भावना रखनी चाहिए और लेने वाले को गहरा सन्तोष रखना चाहिए। ऐसा करने से दोनों को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

खाचरौद का वह सेठ मनों मावा तो कुत्तों को खिला देता था। उसने सदाव्रत अलग खोल रक्खा था। अगर कोई गरीब उसके पास पहुँचकर कहता—मैं भूखा हूँ, तो सेठ विचार करता—इसे रूखी सूखी रोटी तो कोई भी खिला देगा, गर्मागर्म जलेबी कौन खिलाएगा? यह सोचकर वह उसे जलेबियां खिलाता था। उसकी भावना इतनी उदार और ऊँची थी। वह चाहे खुद न खाता पर दूसरों को प्रेम से खिलाता था।

उसके यहां आसामियों के लेन-देन का धंधा था। वह दूध न देने वाली भैंसों को गांवड़े मे भेज दिया करता था और ब्याई हुई भैंसों को अपने पास रखता था। जब वह गांवड़े में जाता तो सेव-दाल के कनस्तर भर कर ले जाता और अपने आसामियों-देनदारों-के लड़कों को प्रेमपूर्वक खिलाया करता था। जब हिसाब किया तो छप्पन के दुष्काल के समय पैदावार

नहीं हुई, लेकिन आश्चर्य है कि उसके आसामियों की पैदावार ज्यों की त्यों हुई ! कोई भी मांगने वाला भिखारी उसके दरवाजे से खाली हाथ नहीं लौटता था।

भाइयो ! उसके पास पूंजी परिमित थी, मगर दिल उसका कितना विशाल था। वह दया पलवाता था और गरीब बहिनों के घर चुपके चुपके अनाज आदि आवश्यकता की चीजें भिजवा देता था। ऐसा वह दिलावर था ! ऐसा दिल लखपति का भी होना मुश्किल है। घर पर वह स्वयं अच्छी चीज खाता था और दूसरों को भी अच्छी ही चीज खिलाता था। खराब खाना और खराब खिलाना उसने सीखा ही नहीं था।

जिस दिन उस सेठ की मृत्यु हुई, सब लोगों को हार्दिक दुःख हुआ। खास तौर से गरीबों को तो बहुत ही दुःख हुआ। वे बहुत रोये। उन्हें ऐसा लगा कि मानों हमारा सहारा चला गया है। किसी ने उनसे पूछा-अरे, तुम लोग क्यों रोते हो ? यहां तो बहुत लखपति हैं ! तब उन्होंने कहा—ऐसे लखपति तो पहले से ही मरे हुए हैं।

जब उस सेठ की मृत्यु हुई, तब भी उसकी पूंजी चार-पांच हजार की थी। इतना परोपकार किया, इतना दान दिया, खूब खाया, खिलाया और बाँटा, फिर भी उसकी पूंजी ज्यों की त्यों रही।

चौथे प्रकार के दातार वे हैं जो धन से भी नीचे और मन से भी नीचे होते हैं।

धर्मरुचिजी अनगार शान्त भाव से, मध्यम गति से, उच्च नीच कुलों पर समभावना रखते हुए आहार के लिए चले। उस समय चम्पा नगरी में एक ब्राह्मण परिवार था। उस परिवार में तीन भाई थे। तीनों में आपस में प्रगाढ़ प्रेम था, लेकिन रसोई अलग-अलग बनती थी। तीनों ने विचार किया कि अपने यहां सम्पत्ति की कमी नहीं है। ऐसा करें कि तीनों घरों में भोजन की बारी बाँध दें। एक दिन एक के चौके में सभी मिल कर जीमें दूसरे दिन दूसरे के यहां और तीसरे दिन तीसरे के यहां। सब के यहां बढ़िया से बढ़िया भोजन बनना चाहिए। ऐसा करने से प्रथम तो भोजन करने में आनन्द आएगा, प्रेमप्रीति बढ़ेगी और प्रत्येक गृहस्वामिनी को भोजन बनाने से दो दिन की छुट्टी मिल जायगी।

बहुत से लोग ऐसे कंजूस होते हैं कि वे न स्वयं खा सकते हैं और न खिला ही सकते हैं। मरने के बाद सरकार भले उनकी सम्पत्ति पर अधिकार कर ले पर वे अपने हाथ से पाई भी नहीं दे सकते। लेकिन इन तीनों के घर बारी-बारी से अच्छे माल बनते हैं और सब साथ बैठ कर प्रसन्नता के साथ जीमते हैं।

एक दिन तीसरे भाई की बारी थी। उसकी पत्नी का नाम नागश्री था। उसने अच्छे-अच्छे भोजन बनाये और तूम्बे का रायता भी बनाया। रायते में बढ़िया मसाले डाले और बघार लगाया। रायता बनाने से पहले उसने तूम्बा चखा नहीं था। जब बन कर तैयार हो गया तो उसे चखने की याद आई। उसने वह रायता चखा तो जीभ पर रखते ही थू-थू करने लगी। वह कड़ुवा जहर था। उसने सोचा—'चलो अच्छा हुआ कि मैंने

पहले ही यह रायता चख लिया। न चखती तो मेरी इज्जत मिट्टी में मिल जाती। इसके बाद उसने दूसरा रायता बनाया और पहले वाले रायते का बर्तन एक किनारे रख दिया। यथा समय तीनों भाइयों ने भोजन किया। स्त्रियां भी जीम चुकीं और नागश्री स्वयं भी खा-पीकर निवट गई। सब ने उसके भोजन बनाने की तारीफ की।

भोजन से निवृत हो जाने पर वह रसोई घर में ऊपरी काम कर रही थी कि उसी समय मासखमण वाले मुनिराज धर्मरुचिजी आहार की गवेषणा करते हुए उसके घर जा पहुँचे। नागश्री ने उन्हें देख कर कहा—महाराज, पधारो!

नागश्री ने सोचा—यह रायता इनको दे दूं तो ठीक रहेगा। फैंकना नहीं पड़ेगा और संतों का क्या है? जैसा मिलेगा वैसा ही खा लेंगे।

भाइयो! देखो भाग्य की बात! स्वर्ग और मोक्ष में जाने की जगह नागश्री नरक में जाने का काम कर रही है! उसके यहां ऐसे महान् तपस्वी पधारे हैं कि अगर भक्तिभाव से साताकारी आहार दे तो उसका महान् कल्याण हो जाय, मगर उसका भवितव्य खोटा है! इसी कारण उसकी भावना ऐसी मलिन हो गई।

धन-धन तपसीजी हो के मुनिवर धर्मरुचि अनगार।

मुनि ने झोली में से पात्र आगे किया उसने वह रायता पात्र में डाल दिया। महाराज ने कहा—बाई, तुम्हें जीमना होगा न? लेकिन वह क्यों सुनने लगी? उसने समझा फंद कटा और सारा का सारा रायता मुनि के पात्र में उंडेल दिया।

मुनिजी ने सोचा—आहार पर्याप्त हो गया है, अब दूसरे घर जाने की क्या आवश्यकता है ? यह सोच कर वे अपने स्थान की ओर चल दिये। वास्तव में मुनि का यही कर्त्तव्य हैकि पहले-पहल पात्र में जो भी आहार आ जाय उसे ही समभाव से ग्रहण करले। यह नहीं की पहले रूखी-सूखी रोटी मिली है तो घी-दूध के लिए गृहस्थों के यहां चक्कर काटता फिरे और जब बढ़िया माल आ जाय तो पहले वाले को फेंक दे! धर्मरुचि अनगार परम तपस्वी और जिनेन्द्रिय थे। उनके लिए सरस और नीरस आहार में कोई अन्तर नहीं था। अतएव उन्हें जो भी मिला, उसे लेकर वे अपने गुरुजी के पास पहुँचे। उन्हें लाया हुआ आहार दिखला कर कहा—गुरुदेव, यह जोग लगा है।

गुरुजी ने आहार देखकर विस्मय किया। कहा—अरे चेला, मासखमण के पारणा के लिए सिर्फ शाक ही शाक बहराने वाला तुझे कौन मिला ? शाक के अतिरिक्त उसने और कुछ भी नहीं बहराया ?

धर्मरुचिजी ने सहज और सरल भाव से कहा—एक नागश्री ब्राह्मणी के घर से यह मिला है। यही इतना बहुत था कि दूसरे घर जाने की आवश्यकता ही नहीं रही। इस कारण इसी को लेकर चला आया हूँ।

गुरुजी ने तभी समझ लिया कि इसमें कुछ न कुछ त्रुटि है। फिर उन्होंने एक उंगली भर कर चखा तो मालूम हो गया कि यह जहर है। तब गुरुजी बोले-चेला! तू इसे खाएगा तो अकाल में ही मर जायगा। इसलिए मेरी आज्ञा है कि तू इसे बाहर जाकर प्रासुक भूमि देखकर परठ दे। यह अभक्ष्य है। इसे खाने वाला जीवित नहीं रहेगा।

गुरु की आज्ञा पाकर वे उसे परठने के लिए चले। जहाँ केलू (कवेलू) पकाये जाते हैं, उस जगह पहुंचे। वहां जाकर—

अवाड़ा पासे जायने हो मुनिवर टपको नाख्यो एक।
सहस्र कीड़िया वास लइ हो मुनिवर मरण लिया वहां देख।
तब मुनिवर मन चिन्तवे हो मुनिवर कियो यो खोटो काम।
सहस्र कीड़ियां मर गई हो मुनिवर प्राण तजा इण ठाम।
धन–धन तपसीजी........

भाइयो! मुनिराज ने शुद्ध भूमि देख कर शाक का एक बूंद वहां डाला। इधर उधर उसकी गंध फैली। हजारों कीड़ियां वहां आ पहुंची और शाक के बूंद में मुंह लगा-लगा कर मर गई। यह हालत देख कर मुनिराज ने कहा—गुरु महाराज का आदेश था कि ऐसी जगह डालना जहां डालने से किसी जीव को कष्ट न पहुँचे। मगर यहां कहीं भी डालने से तो हजारों-लाखों प्राणियों की जान चली जायगी! फिर मेरे पेट के सिवाय प्रासुक जगह और कौन-सी है? इसमें डाल देने से किसी भी जीव को तकलीफ नहीं होगी। यह सोच कर—

घोल घाली ने सब तूम्बड़ो, हो मुनिवर पीधो आप शरीर।
दया भाव दिल में धरी, हो मुनिवर छह काया का पीर॥
॥ धन–धन० ॥

उन परम दयालु और देह की ममता से रहित उन महामुनि ने वह रायता अपने ही पेट में डाल लिया। पात्र को पोंछ कर साफ करके वे पी गये। कितना कटुक था वह रायता!

मगर जिसके दिल में दया का वास होता है, वह अपने कष्टों को ओर ध्यान नहीं देता। दूसरे प्राणियों की रक्षा के लिए दयावान पुरुष घोर से घोर कष्ट भी प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेते हैं। जीवों की दया के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देने का यह उदाहरण मानव जाति के इतिहास में अनूठा है! विरला ही कोई ऐसा त्याग कर सकता है। धन्य हैं, धन्य हैं तपस्वीराज धर्मरुचिजी! उनकी दयालुता, उनकी कोमलता, उनका त्याग और बलिदान युग-युग तक अमर है। कौन निष्ठुर ऐसा होगा जो इस अनुपम चरित को पढ़-सुन कर द्रवित न हो जाय! किसका मस्तक ऐसी मानव-समाज की विरल विभूतियों के समक्ष श्रद्धा और भक्ति से नत नहीं हो जायगा? सच है, ऐसे लोकोत्तर महात्माओं के त्याग और पावन चरित की बदौलत ही जिनेन्द्र भगवान् का शासन आज तक देदीप्यमान रहा है। किस मुख से ऐसे महापुरुषों का बखान किया जाय? कीड़ियों की रक्षा के लिए अपने शरीर का परित्याग करके सन्तोष मानने वाले महामुनिराज! आपके प्रति हम अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकाशित करते हैं और मनुष्य में जब तक दया की भावना रहेगी, विवेक की थोड़ी-सी भी मात्रा रहेगी, तब तक तुम्हारे त्याग की गुण गाथा गाई जाती रहेगी।

इस सम्बन्ध में शास्त्र का पाठ है:—

ततेणं तस्स धम्मरुइस्स अणगारस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था जइ ताव इमस्स सालतियस्स जाव एगंमि बिंदुंमि पक्खित्तंमि अणगाति पिपीलिका सहस्साइं ववरोविज्जंति, तं जति णं अहं एयं सालइयं

थंडिल्लंसि सव्वं निसिरामि, ततेणं बहूणं पाणाणं भूत्राणं जीवाणं सत्ताणं वह करणं भविस्सति—

तं सेयं खलु ममेयं सालइयं जाव गाढं सयमेव आहारेत्तए, मम चेव एएणं सरीरेणं णिज्जाउ त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहित्ता मोहपोत्तियं पडिलेहेति पडिलेहित्ता ससीसोवरियं कायं पमज्जेति पमज्जित्ता तं सालइयं तित्तकडुयं बहुने हावगाढं बिलमिव पन्नगभूतेणं अप्पाणेणं सव्वं सरीकोट्ठंसि पक्खिवति।

मुनिराज धर्मरुचिजी उस कडुए तूम्बे के शाक को, बिना नाक-भौंह सिकोड़े उसी प्रकार पी गये जैसे कोई दूध और शहद को पी जाता है। पीकर वहाँ से उठे और ज्यों ही थोड़ी दूर गये कि चक्कर आने लगे। एक मास से पेट खाली पड़ा था। उस पर ज़हर का असर होते क्या देर लगती थी! मुनिराज समझ गये कि शरीर में ज़हर व्याप्त होने लगा है। अभी मैं होश में हूँ। मुझे यों ही शरीर का त्याग नहीं कर देना चाहिए। जब तक शरीर काम दे सके और मैं शरीर से काम ले सकूँ, तब तक ले ही लेना चाहिए। ऐसा विचार करके वे एक वृक्ष के नीचे गये और उन्होंने यावज्जीवन आहार पानी का परित्याग कर दिया अर्थात् संथारा ले लिया।

मुनिराज की भावना अब और ऊँची चढ़ी। वे आत्मा के स्वरूप में रमण करने लगे। शरीर था पर उसका अभ्यास नहीं

था। मानों देह में रहते भी वे देह से अतीत हो चुके थे। न शरीर उनका था, न वे शरीर के स्वामी थे। उन्होंने शरीर की चिन्ता छोड़ ही दी थी। चाहे उसे कुत्ता खा जाय या काक चींथ डालें। उन्हें उससे कोई प्रयोजन नहीं था। शरीर का जो सदुपयोग उन्हें करना था, कर चुके थे। इस उत्कृष्ट भावना के साथ शरीर को त्याग कर मुनिराज की आत्मा सर्वार्थसिद्ध विमान में अहमिन्द्र के रूप में उत्पन्न हुई। सर्वार्थसिद्ध विमान सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग है और जो वहाँ उत्पन्न होते हैं, एक भवावतारी होते हैं। सर्वार्थसिद्ध से च्युत होकर एक बार मनुष्य का भव करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। सर्वार्थसिद्ध विमान की स्थिति तेतीस सागरोपम की है। तेतीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर वहाँ के देव एक बार सांस लेते हैं।

इधर धर्मरुचिजी की आत्मा स्वर्गवासी हो गई और उनके गुरुजी उनकी राह देख रहे थे। जब काफी देर हो गई और वे अपने स्थान पर न पहुँचे तो गुरुजी ने उनकी तलाश करने के लिए दूसरे चेलों को भेजा। चेले वहाँ पहुँचे और सारा वृत्तान्त जान कर गुरुजी के पास लौट गये। गुरुजी समझ गये—धर्म-रुचिजी ने जीवों की रक्षा के लिए स्वयं ही रायता पी लिया और देह, त्याग कर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया है।

गुरुजी ने अपने ज्ञान का उपयोग लगाया और मालूम करके कहा—ओहो! यह उस नागश्री नामक ब्राह्मणी का कार्य है। उसी ने धर्मरुचिजी को जहरीला शाक बहराया है। चेलों को भी यह बात मालूम हो गई। उनमें से किसी ने नगरी में बात चला दी। आखिर फैलती-फैलती बात उन ब्राह्मणों के कानों तक भी पहुँची। उन्हें अत्यन्त क्षोभ और लज्जा का अनुभव हुआ।

मगर जो होना था सो हो चुका था। उस भयानक अनर्थ को रोकने का कोई उपाय ही नहीं रह गया था। फिर भी तीनों भाइयों ने निश्चय कर लिया कि एक महान् तपस्वी मुनिराज का घात करने वाली औरत को अपने घर में रखना कलंक की बात है। उसे फौरन ही बाहर निकाल देना चाहिए आखिर उसके पति ने नागश्री को फटे कपड़े पहना कर घर से बाहर निकाल दिया। सभी लोग उस हत्यारिणी को धुतकारने लगे। वह जिधर जाती उधर ही लोग उसका अपमान करते, तिरस्कार करते। उसका मुंह देखना भी अमगल माना जाने लगा।

नागश्री अपने घोर पातक का फल भुगतने लगी। जीविका के लिए कोई उपाय न देख कर वह ठीकरा लेकर भीख मांगती फिरती थी। उसका पाप इतना उत्कट था कि उसके उदय से उसके शरीर में सोलह भयानक रोग उत्पन्न हो गये, जिनमें कोढ़, खांसी, श्वास, जलोदर आदि की गणना होती है। इतने रोगों से पीड़ित होकर वह कब तक जिंदा रह सकती थी? आखिर मर कर वह छठे नरक में उत्पन्न हुई।

भाइयो! नागश्री की हालत पर जरा विचार करो। जिस समय मुनिराज उसके द्वार पर पधारे, उस समय दो मार्ग उसके सामने थे! वह भक्तिभाव से आहारदान देकर अपने लिए स्वर्ग का मार्ग साफ कर सकती थी, मगर उसने उलटा ही काम किया। उसने अपने लिए नरक का निर्माण कर लिया। वह अभागिनी तिरने के बदले डूब गई। नागश्री की इस मूर्खता पर आपको तरस आता है? आता तो होगा ही, मगर ध्यान रखना कि तुम स्वयं तो नागश्री का अनुसरण नहीं कर रहे हो? तुम्हें जो सुअव-

सर पुण्योदय से मिला है, उसका नागश्री की तरह दुरुपयोग तो नहीं करते ? मनुष्यभव, आर्यक्षेत्र, वीतरागप्ररूपित धर्म का लाभ, सद्‌गुरुओं का समागम, आदि उत्तम सामग्री पाकर तुम अपने लिए स्वर्ग का मार्ग बना रहे हो या नरक का पथ साफ कर रहे हो ? इन बातों पर विचार करके अपना कर्त्तव्य निश्चित करोगे तो नागश्री की मूर्खता तुम्हारे लिए कल्याणकारिणी बन जायगी।

देखो, सावधान रहना। किसी मुनिराज को देख कर उनका उपहास मत करना। अगर उन्हें साता न पहुँचा सके तो कम से कम असाता मत पहुंचाना नहीं तो नागश्री के मार्ग पर चलना पड़ेगा। नरकगामी होना पड़ेगा। नरक के बाद भी न मालूम किन-किन योनियों में भटकना होगा। कोई कीड़ा बनेगा, कोई मकोड़ा बनेगा, कोई भिंडी, तोरई और करेला बनेगा।

मुनिराज को देखकर उनका गुणगान करो, उनके संयम, तप और त्याग की सराहना करो। ऐसा करने से मिथ्यात्वी भी सम्यक्त्वी बन सकता है बुराई करोगे तो सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि बन जाओगे। हो सकता है कि किसी साधु में कोई त्रुटि मिल जाय या कोई बुराई नजर आ जाय, पर तुम बुराई क्यों देखते हो ? तुम्हें किसी भी दूसरे के अवगुण न देख कर गुण ही देखने चाहिए। श्रीकृष्णजी महाराज ने गुण लिया था तो तुम भी गुण ही ग्रहण करो। बहुत से लोग सोचा करते हैं—मैं इस सम्प्रदाय का हूँ और वह मुनि उस सम्प्रदाय के हैं—मैं उनका आदर क्यों करूं ? मगर इस तरह के विचार तुच्छ हैं। आदर सम्प्रदाय का नहीं, गुण का करना चाहिए। जिस किसी में रत्नत्रय का सद्भाव तुम्हें प्रतीत हो, चारित्र की उज्ज्वलता दिखाई देती हो, उसका

आदर करो। यही भगवान् का उपदेश है। ऐसा करने से ही तुम्हारा जीवन उन्नत बनेगा। इसी से तुम पवित्रता के पथ पर अग्रसर हो सकोगे।

भाइयो! नागश्री की तरफ मत डूबो। जब ऊपर उठने का अवसर मिले तो नीचे गिरने का प्रयत्न मत करो। और जो खोटी सीख देते हैं, वे भी डूबेंगे। मुंह बांध लेने से ही आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। मुख बाँधने वाले का धर्म है शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था रखना। मुख बांध लेने पर भी अगर यह सद्गुण विकसित न हुए तो सब व्यर्थ है। साधु होकर भी सम्प्रदाय का विषमतापूर्ण भेदभाव रखना बुरा है। देखा जाता है कि संवत्सरी संबंधी क्षमापणा के लिए भी कोई साधु, दूसरे सम्प्रदाय के साधु को और आर्या साधु को तथा साधु आर्या को खमाने नहीं जाते। और सब से क्षमायाचना करना किन्तु साधु या आर्या से क्षमायाचना न करना और वह भी सम्प्रदायभेद के कारण, बहुत बुरा है। यह विषमभाव है। घर छोड़ा पर मान न छोड़ा और कपट न छोड़ा तो क्या हुआ? गृहस्थ और साधु में फिर अन्तर ही क्या रहा? श्रावक भी एक दूसरे की निन्दा करते देखे जाते हैं। दुनियादारी के शब्दों में कहा जा सकता है कि कोयले का तिलक क्यों लगाते हो? मुझे दया आती है। मन में सोचता हूँ कि ऐसे जीवों का कल्याण किस प्रकार होगा? जो लोग अपनी दुर्भावना के कारण अमृत को भी जहर बना लेते हैं, वे अमरता कैसे प्राप्त कर सकेंगे? अन्तःकरण की समस्त बुराइयों, पापों और दोषों को दूर करने का साधन धर्म है, मगर धर्म को ही जिन्होंने ईर्षा, द्वेष आदि का साधन बना लिया वे किसका सहारा लेकर तरेंगे? ऐसे लोग संवर की जगह आस्रव कर रहे

हैं। इनकी दशा दयनीय है। प्रभु से प्रार्थना है कि ऐसे जीवों को सद्बुद्धि प्राप्त हो।

अगर आप सचमुच ही आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं तो किसी भी बातों में मत लगो। प्रभु के आदेश के विरुद्ध किसी की मत सुनो। दान, शील, तप और भावना की आराधना करो, धर्मध्यान करो। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा।

कई पापी जीव उत्थान के साधन को पतन का साधन बना लेते हैं। वे उत्तम पुरुषों को देखकर उलटा पाप का बंध कर लेते हैं। देख लो, भगवान् महावीर जैसे लोकोत्तर महापुरुष को देखकर बहुत-से तिर गये तो कई डूब भी गये। उनके डूबने का असली कारण उनकी मलीन भावना है। एक बार गौतम स्वामी विहार करके आ रहे थे। उन्हें देखकर एक किसान ने नमस्कार किया। उपदेश सुनने से उसे वैराग्य हो गया और वह उनका शिष्य बन गया। गौतम स्वामी अपने नये चेले को लेकर भगवान् के पास चले। तब शिष्य ने पूछा—गुरुजी, कहां चल रहे हो? गौतम स्वामी ने कहा - मैं अपने गुरु के पास चल रहा हूँ। यह उत्तर सुन कर चेला को आश्चर्य हुआ। उसने सोचा—यह स्वयं इतने महान् हैं तो इनके भी गुरुजी कितने महान् न होंगे? चलो, उनके भी दर्शन करके नेत्र सफल करें।

इस प्रकार मन में सोचता हुआ वह चेला गौतम स्वामी के पीछे-पीछे भगवान् महावीर के पास आया। पर ज्यों ही उसकी दृष्टि भगवान् पर पड़ी, त्यों ही वह ओघा-पातरे फेंक कर भाग गया। चेले की यह दशा देख कर गौतम के आश्चर्य का

ठिकाना न रहा। गौतम ने भगवान् से पूछा-प्रभो! वह अपनी इच्छा से शिष्य बना था, पर आपको देख कर भाग क्यों गया?

भगवान् बोले—एक बार पूर्वजन्म में मैं वासुदेव था और यह किसान का जीव सिंह था मैंने उसे मार डाला था। अब यह किसान है। इसकी आत्मा में वही पूर्व जन्म के संस्कार बने हुए हैं। मैंने अपने पुरातन संस्कारों को धो डाला है, पर वह अब तक उन्हें नहीं धो सका है।

भाइयो! प्रभु के उत्तर से समझा जा सकता है कि एक जन्म के संस्कार अनेक जन्मों तक कायम रहते हैं और वे अपना काम करते रहते हैं। विशेषतया वैरभाव का प्रभाव बड़ा उग्र होता है। यह समझो कि तुम सामर्थ्यवान् हो, तुम्हारा कोई क्या बिगाड़ सकता है? तुम किसी के साथ कैसा ही व्यवहार कर सकते हो! कौन जानता है आज के तुम्हारे दुर्व्यवहार का फल कब और किस रूप में तुम्हें भोगना पड़ेगा? इस जन्म के वैर का बदला न मालूम किस जन्म में चुकाना पड़े! अतएव शक्ति और सत्ता आदि के अभिमान में मत भूलो। सदा सोच समझकर प्राणी मात्र के प्रति स्नेह और दया की ही भावना रक्खो।

हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि कई लोग साधु, साध्वी को देख कर द्वेष करने लगते हैं और उस द्वेष के कारण अपनी आत्मा को गिरा लेते हैं। इसमें भाग्यवान् साधु, साध्वी आदि का कोई दोष नहीं है। परन्तु कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। कर्मोदय के अधीन होकर प्राणी न करने योग्य काम करता है और करने योग्य काम नहीं करता। विषम भावना को प्रश्रय देता है और समभावना को पास भी नहीं फटकने देता।

विवेकवान् पुरुष किसी की निन्दा नहीं करते। वे सोचते हैं कि पराई निन्दा करने से हमें क्या लाभ है? निन्दा करने से मुंह मीठा नहीं होता, संपदा नहीं मिलती, बड़ाई भी नहीं मिलती, कल्याण भी नहीं होता। यही नहीं परनिन्दक समझदार लोगों में हीन दृष्टि से देखा जाता है और ज्ञानियों की दृष्टि में व्यर्थ ही पाप का उपार्जन करता है।

हे भाई! तू जरा विचार कर। दूसरे के दोष देखने से और उनका बखान करने से तुझे क्या लाभ है? किसी को नीचा दिखाने से तू क्या ऊँचा हो जायगा? तुझे स्वर्ग की सम्पत्ति मिल जायगी? फिर क्यों वृथा पापकर्म का संचय करता है? यदि तेरे हृदय में उनके दोष चुभते हैं तो उन्हें दूर करने का उपाय खोज। उन पर अनुकम्पा कर। एकान्त में, स्नेहपूर्वक समझा। पर दुनिया में ढोल पीटने से तो दूसरों का सुधार होगा नहीं!

तुम्हारी नजर दूसरे के दुर्गुणों की तरफ क्यों जाती है? गुणीजनों की संसार में कमी नहीं है। देखने हैं तो उनके गुणों को देखो। सद्गुणों पर नजर रखने से तुम भी सद्गुणी बनोगे जब किसी गुणवान् को देखो तो जलन मन पैदा होने दो, प्रमोद भाव उमड़ने दो।

गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे।

सद्गुणी पुरुषों को देख कर जिसके चित्त में प्रमोद भाव का झरना बहने लगता है, वह सचमुच बड़ा ही भाग्यशाली है! वह आज नहीं तो कल उन सद्गुणों का पात्र बन जायगा। उस

की आत्मा निर्मल बनेगी। अतएव किसी को दान देते देखो, शील पालते देखो, तपस्या करते देखो या शुभ भावना भाते देखो तो उसकी प्रशंसा करो, सराहना करो, उसका गुणगान करो, ईर्षा मत करो, द्वेष मत करो। तुम्हारे हृदय का जरा झुकाव ही पासा पलट देता है। वह एक तरफ झुकेगा तो स्वर्ग देगा और दूसरी तरफ झुकेगा तो नरक की ओर ले जायगा।

देखो, नागश्री जरा-सी चूक गई। उसकी चूक के कारण उसे छठे नरक में जाना पड़ा। इसके विपरीत मुनिराज धर्मरुचि की भावना उज्ज्वल रही तो वे सर्वार्थसिद्ध विमान में, संसार के सर्वोत्कृष्ट सुख के भोक्ता बने और एक भव धारण करके मोक्ष-सुख के भोक्ता बन जाएँगे। मुनिराज के समान उज्ज्वल भावना आएगी तो आत्मा का कल्याण होगा।

जम्बूकुमार की कथा--

जम्बूकुमार की आत्मा में वही उज्ज्वल भावना उदित हुई है। अभी सिर्फ सोलह वर्ष की आयु है। संसार के सुखों का स्वाद उन्होंने चखा नहीं है। फिर भी वैराग्य की उत्कटता देखो! उनके सामने कितने बड़े बड़े प्रलोभन हैं। विपुल वैभव है, नवयुवा अवस्था है, अभी-अभी विवाह हुआ है, अनुराग रखने वाली रमणियां उनके सामने हाथ जोड़े खड़ी हैं, किसी भी प्रकार की कमी नहीं है, फिर भी जम्बूकुमार की विरक्ति को कोई खंडित नहीं कर सकता!

उनकी तीसरी स्त्री पद्मसेना ने एक उदाहरण देकर उन्हें समझाने का प्रयत्न किया। जम्बूकुमार ने उसके उत्तर में दूसरा

उदाहरण दिया और अपने पक्ष का समर्थन किया। तब वह चुप होकर एक तरफ बैठ गई। इसके बाद चौथी स्त्री कचनसेना उठी और हाथ जोड़कर बोली,—

नाथ ! जरा मेरी भी सुनो। प्रतिवाद करने की भावना से नहीं वरन् न्याय करने की भावना से सुनो। आप जिद करके बैठे हैं और अपने निश्चय पर फिर विचार करने को तैयार नहीं है। एक बार अपने पहले के सकल्प को त्याग दीजिए और मस्तिष्क को बिलकुल साफ बना लीजिए उसके बाद हमारी बात पर नये सिरे से विचार कीजिए। अगर आप ऐसा नहीं करेंगे और अपनी जिद पर अड़े ही रहेंगे तो बाद में आपको भी उस किसान की तरह पछताना पड़ेगा।

जम्बू०—प्रिये ! किसान की बात का व्यौरा तो बतलाओ। उसे किस कारण पछताना पड़ा।

कंचनसेना ने कहा—कंचनपुर नामक एक नगर था। उसमें एक किसान रहता था। नगर से बाहर उसका खेत था। फसल पक गई थी और उसे काटने का समय हो गया था। किसान खेत मे मचान बना कर रहता था और रात मे सुअर वगैरह कोई जानवर आ जाते तो उन्हें शंख बजा कर या गोफ के द्वारा भगा देता था।

एक बार रात्रि में चार चोर आये। उन्होंने विचार किया—चोरी में जितना माल मिलेगा, उसका बराबर बराबर हिस्सा करेंगे। यह निश्चय करके वे नगर में गये और सयोगवश ऐसी जगह जा पहुँचे कि उन्हें सोना ही सोना मिला। सोने की गठरी

बाँधकर वे बाहर आये और उस किसान के खेत के पास आकर हिस्सा करने लगे। किसान के कानों में भनक पड़ी तो उसने समझा—सुअर आ गये हैं। उसने जोर से शंग बजाया। चोरों में सहास तो होता नहीं, शंख की आवाज सुन कर वे डर गये। उन्होंने समझा कि फौज आ पहुँची है। वे सारा सोना ज्यों का त्यों छोड़ कर भाग खड़े हुए।

प्रातःकाल हुआ। सुअरों ने रात्रि में कितना नुकसान किया है, यह जानने के लिए किसान मचान से नीचे उतरा और उस ओर गया तो देख कर दंग रह गया। वहां सोना ही सोना पड़ा दिखाई दिया। उसी समय उसकी स्त्री भी आ पहुंची। स्त्री ने कहा—इसे घर ले चलें।

किसान ने कहा—नहीं, इतना सोना घर ले चलेंगे तो कोई देख लेगा। औरत ने बहुत समझाया, परन्तु किसान नहीं माना। आखिर उसने अपने मचान के नीचे सारा सोना धरती में गाड़ दिया। वह निश्चिन्त हो गया।

कुछ दिनों के बाद वही चोर फिर चोरी करके लौटे और उसी खेत की मेड़ पर बैठ कर बॅटवारा करने लगे। किसान ने फिर गड़बड़ सुनी और शख बजाया। चोर भागाने लगे। किसान ने दूसरी बार शख बजाया और फिर तीसरी बार भी बजा दिया। चोरों में से एक ने कहा—देखना तो चाहिए कि वास्तव में बात क्या है? शंख कौन और किस लिए बजा रहा है? बात सब चोरों की समझ में आ गई। पता लगाया तो मालूम हुआ कि न फौज है, न पुलिस है। खेत का मालिक किसान ही शख बजा रहा है।

अब सब चोर मिल कर किसान के पास पहुँचे। कहा—नीचे उतर। किसान नीचे उतरा तो चोरों ने उसे बुरी तरह पीटा। फिर उससे पूछा—क्या पहले भी तू ने शंख बजाया था ?

किसान ने भयभीत होकर हाँ भर ली।

चोरों के पूछने पर उसने गड़ा हुआ सारा सोना भी बतला दिया। चोर वह सोना और इस बार की चोरी का माल लेकर चम्पत हो गये।

किसान पर इतनी मार पड़ी थी कि उसका सारा शरीर सूज गया था। अधमरा हो रहा था। उठने-बैठने की शक्ति नहीं रह गई थी। सुबह उसकी स्त्री आई। उसने रात्रि का सारा हाल मालूम करके कहा—मैंने तो पहले ही आग्रह किया था कि सारा सोना घर ले चलो, पर मेरी सुनता कौन है ? अपनी अक्ल के भरोसे रहे तो उसका फल भुगतना पड़ा। सोना गया सो तो गया ही, ब्याज में मार पड़ी सो अलग ही ! यह कह कर वह अपने पति को घर ले गई। सारे शरीर का सेक किया तब कुछ दिनों बाद वह ठीक हुआ। किसान की शारीरिक पीड़ा तो दूर हो गई किन्तु मानसिक पीड़ा दूर न हो सकी। वह जिन्दगी भर अपनी मूर्खता के लिए पश्चात्ताप करता रहा। सदा यही सोचा करता कि मैंने अपनी पत्नी का कहना माना होता तो मेरी दुर्दशा न होती। मगर उसका पश्चात्ताप कोरा पश्चात्ताप ही रहा। उससे हानि के सिवाय लाभ कुछ भी न हुआ।

कंचनसेना ने कहा—प्रियतम ! किसान ने पहली बार शंख बजाया और सोना हाथ लगा। अगर वह उसी में सन्तोष

मान लेता और दो बार शंख न बजाता तो उसे जिन्दगी भर पश्चात्ताप न करना पड़ता, दुःख का अनुभव न करना पड़ता। इस उदाहरण को सामने रख कर आप विचार कीजिए। पहले के संचित पुण्य कर्म के उदय से आपको सब प्रकार की सुख-सामग्री मिली है। संसार में जो भी सुख संभव हो सकता है, वह सभी आपको प्राप्त है। कमी किस चीज की है? फिर भी आपको सन्तोष नहीं है। आप इस सुख को छोड़ कर और अधिक सुख पाने की भ्रमणा में पड़े हुए हैं। यह आपकी भयंकर भूल है। इससे आप न इधर के न उधर के रहेंगे। अतएव हठ मत कीजिए। किसान की स्त्री की भांति हम आपको हितकर ही परामर्श दे रही हैं। आप जिद छोड़ कर इसे मान लीजिए, ताकि फिर पश्चात्ताप करने का अवसर न आवे।

पतिदेव! आप बार-बार शंख मत फूंकिये। हमारी प्रार्थना स्वीकार कीजिये। नहीं तो आपको भी कष्ट उठाना पड़ेगा और हमारे प्राण भी पाहुने हो जाएँगे। आप स्वयं विचार कीजिए कि आपके सिवाय हमारा कौन है? हमारी जीवन-नैया के खेवनहार आप ही हैं। आप चाहें तो उसे मँझधार में डुबा सकते हैं। चाहें तो किनारे लगा सकते हैं। आपके सिवाय हमारे लिए और कोई आधार नहीं है। हम आपके ही सहारे हैं।

फिर आप अपनी दृष्टि से भी विचार कीजिए। अभी आपने संसार के राग-रंग नहीं देखे हैं। चढ़ती हुई जवानी है। जल्दी क्या है? साधु होना है तो उचित समय पर हो जाना। साधुपन कहीं भागा थोड़े ही जाता है? अभी तो लम्बी जिन्दगी पड़ी है। इन्द्रियों को शान्त होने दीजिए। सहसा उत्तेजना में आकर जो साधु बन जाते हैं और अपने भविष्य का गहरा विचार

नहीं करते उन्हें संसार की निगाहों में गिरना पड़ता है। अपनी निगाह में भी गिरना पड़ता है और संयम धर्म से भी गिरना पड़ता है।

एक आदमी सभी शस्त्रों से लैस होकर मूछों पर ताव देता हुआ गाँव की ओर आ रहा था। रास्ते में उसकी स्त्री मिल गई। उसने देखा कि मेरे पतिराज आ रहे हैं, परन्तु जब वे पास आये तो वह उन्हें देख कर हँसने लगी। पति ने पूछा—क्यों हँस रही हो? पत्नी कहने लगी—आपको देख कर हँसी आ गई!

पति—क्यों, हँसने लायक क्या देखा मुझ में?

पत्नी—आप सब शस्त्रों से सज्जित हो, मूछों पर ताव देते हुए बड़ी शूरवीरता के साथ, अकड़ते हुए चल रहे हैं, मगर जब हम स्त्रियों के सामने आते हैं तो खीसें दिखलाने लगते हैं।

सिंह मारन को महाबली, तोड़न को गजदन्त।
कामदेव से दल गये, ऐसे कायर कन्त!॥

आप सिंह को मार सकते हैं और हाथियों के दांत उखाड़ सकते हैं, ऐसी शूरवीरता आप में मौजूद है। पर औरतों के सामने वह कहां भाग जाती है?

रावण कितना प्रचण्ड योद्धा था! कितना बलवान् था! उसकी शक्ति के सामने बड़े-बड़े शूरवीर थर्राते थे। किन्तु सीताजी के सामने वह कैसा बन जाता था? काम के आगे वह नगण्य कीट की गिनती में भी नहीं आता था।

वास्तव में कामदेव बड़ों बड़ों को पागल बना देता है। यह घोर अनर्थों का मूल है। इसे जीतने वाले शूरवीर विरले ही होते हैं।

कंचनसेना कहती है—प्राणवल्लभ ! मेरी बातों की उपेक्षा मत करो। यह उम्र जोग साधने की नहीं है। आखिर आप किस के धर्म का अनुसरण करना चाहते हैं ? भगवान् ऋषभदेव के धर्म का ? तो क्या वे इस प्रकार विवाह करके योगी बन गये थे ? क्या उनके सौ पुत्र और पुत्रियां नहीं थीं ? क्या सन्तान उत्पन्न करने के कारण उनकी मुक्ति नहीं हुई ? फिर आप क्यों एकदम घर त्याग रहे हैं ? क्या आप उनसे भी आगे कदम रखना चाहते हैं ? आप मुक्ति से भी बड़ी कोई चीज चाहते हैं ? मोक्ष ही चाहिए तो वह थोड़े दिनों तक गृहस्थी में रहने से रुक नहीं जायगा। फिर इतनी उतावल किस लिए है ?

नाथ ! देखते नहीं, हम सब आपके प्रेम के लिए तड़प रही हैं। हमारे हृदय को मार्मिक चोट पहुँचा कर क्या आप साधना कर सकोगे ? आप बुद्धिमान् हैं, चतुर हैं, अतः हमारी प्रार्थना पर ध्यान दीजिए।

ता० २०-६-४८

सद्गुरु की कसौटी

स्तुतिः—

> गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग—
>
> स्त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः ।
>
> सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्,
>
> खेदुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? भगवन् ! आपके गुण कहां तक गाये जाएं ?

जब भगवान् ऋषभदेव इस जगतीतल पर विराजमान थे और ग्राम, नगर, पुर, पट्टन आदि में विचरते हुए धर्मोपदेश दे

रहे थे, उस समय आकाश में भगवान के उज्ज्वलतम यश की दिव्य दुन्दुभि बजती थी। देवों द्वारा बजाई हुई उस दुन्दुभि की ध्वनि बड़ी गभीर और उच्च होती थी। उसकी ध्वनी दिग-दिगत में व्याप्त हो जाती थी। वह दुन्दुभि मानों धर्मराज भगवान् की अलौकिक विजय की घोषणा करती थी! उस समय बारह योजन लम्बे और नौ योजन तक चौड़े नगर भी थे। इतने लम्बे-चौड़े नगर में अर्थात् ४८ कोस की लम्बाई और ३६ कोस की चौड़ाई में बसने वाले लोगों को भगवान् के पदार्पण की या विहार करने की सूचना किस प्रकार हो? नगर निवासियों को कैसे पता चले कि भगवान् पधारे हैं या विहार कर रहे हैं? किन्तु आकाश मे बजने वाली देव-दुन्दुभि सब को सूचित कर देती थी कि तीन लोक में सबसे उत्तम समागम का यह सुअवसर है! दुन्दुभि की जबर्दस्त ध्वनि होते ही लोग समझ लेते थे कि महाप्रभु भगवान् नाभिनन्दन पधार गये हैं या अन्य जगह विहार कर रहे हैं। तब असंख्य नर-नारियों के झुंड के झुंड सद्धर्म का वास्तविक तत्त्व समझने के लिए भगवान् की सेवा में उपस्थित हो जाते थे और अपने जीवन को सफल और पवित्र बनाते थे। ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं। उनको ही हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयो! जब धर्म-लाभ का सुयोग प्राप्त हो तो एक दूसरे को सूचना पहुँचाने में भी बड़ा लाभ है। अब भी आपका शहर (जोधपुर) भी काफी लम्बा-चौड़ा हो गया है। कोई कहीं और कोई कहीं रहता है। यदि कोई साधु आवे और विहार कर जावे तो भी कई लोगों को पता ही न चले! ऐसी स्थिति में आप में से जिन्हें पता चल जाय, उनका यह फर्ज है कि वे दूसरों को भी सूचना कर दें। जहाँ ऐसी सुव्यवस्था

और संगठन होता है, वहां सभी लोग, जो लाभ उठाना चाहते हों, सहज ही धर्मश्रवण का लाभ उठा सकते हैं। धर्म का श्रवण एव आचरण करने की प्रेरणा करने-दलाली करने में भी महान् लाभ है। क्योंकि ससार की अन्य वस्तुएं तो मिल जाती हैं परन्तु सद्गुरु का समागम मिलना वहुत कठिन है। बड़े पुण्य से सद्गुरु का समागम होता है। सद्गुरु की संगति से अन्तःकरण में छाया हुआ अज्ञानन्धकार नष्ट हो जाता है, पापों का प्रक्षालन होता है, आत्मा निर्मल वनती है और सच्चा हितकर मार्ग सूझने लगता है।

सद्गुरु किसे कहना चाहिए? इस सम्वन्ध मे आगम में कहा है:—

नाणदंसणसंपन्नं, संजमे य तवे रयं।
गणिमागमसंपन्नं, उज्जाणम्मि समोसढं ॥

—श्रीदशवैकालिक, अ. ६, गा. १

इस गाथा में सद्गुरु का पहला लक्षण ज्ञान से सम्पन्न होना वतलाया है। जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है वही सद्गुरु हो सकता है। ज्ञानी गुरु स्वयं तिरते हैं और दूसरों को तारते हैं। वे जहाज के समान हैं। जैसे जहाज स्वयं भी पार लगता है और अपना आश्रय लेने वालों को भी पार लगाता है, उसी प्रकार ज्ञानवान् गुरु स्वयं संसार-सागर से पार उतरते हैं और उनके चरण-कमलों का आश्रय लेने वाले अन्य भव्य जीवों को भी पार लगाते हैं।

जिसमें ज्ञान की प्रवलता तो नहीं होती किन्तु चारित्र की प्रवलता होती है, ऐसे गुरु को डांडे की उपमा दी गई है, जो स्वयं

तो तिरती है परन्तु दूसरों को नहीं तारती। ज्ञानी गुरु स्व-पर का कल्याण करते हैं।

सद्गुरु का दूसरा और महत्त्वपूर्ण लक्षण है—श्रद्धावान् होना। कई लोग ज्ञानवान् तो होते हैं किन्तु श्रद्धा उनमें नहीं होती। श्रद्धा के अभाव में ज्ञान विपरीत होता है। ज्ञान की यथार्थता और शोभा श्रद्धा से ही है। श्रद्धाहीन ज्ञान उपयोगी नहीं होता। जिसमें आत्मा, परमात्मा, धर्म आदि के सम्बन्ध में श्रद्धा न होगी, उसका ज्ञान अनर्थकारी होगा। श्रद्धाहीन ज्ञान से तो अज्ञान ही भला है। कुज्ञान जितना अनर्थकर होता है, अज्ञान उतना अनर्थ उत्पन्न नहीं करता। अज्ञानी स्वयं डूब सकता है, मगर कुज्ञानी अपने साथ न जाने कितनों को डुबोता है। कुज्ञानी उलटा उपदेश देता है। तत्त्व के स्वरूप को बिगाड़ देता है। वह धर्म का विपरीत स्वरूप जनता के समक्ष उपस्थित करता है।

श्रद्धाहीन जन का मन निरन्तर चंचल बना रहता है। वह जो ध्येय बनाता है, उस पर स्थिर नहीं रह सकता। प्रथम तो श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दृष्टि के अभाव में वह अपना ध्येय ही गलत बनाता है, फिर उस पर भी वह टिकता नहीं है। ऐसी दशा में उसका जीवन और सारा प्रयास निरर्थक हो जाता है या विपरीत फलदायी सिद्ध होता है। अतएव मनुष्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य यही है कि वह अपनी श्रद्धा को सही रूप दे। जब श्रद्धा समीचीन होगी तो तदनुकूल क्रिया करने की भावना भी जल्दी या देर से उत्पन्न हो जायगी। इसीलिए यहां सद्गुरु का लक्षण दर्शन-सम्पन्नता बतलाया गया है।

कहा जा सकता है कि श्रद्धा न हो तो भी क्या हानि है? अकेले ज्ञान से ही काम चल जायगा। परन्तु नहीं, श्रद्धाहीन

ज्ञान से निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता। कदाचित् न्यून ज्ञान वाले संसार-समुद्र तिर सकते हैं किन्तु श्रद्धाहीन कदापि मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते। केवली भगवान् ने जिन तत्त्वों का उपदेश दिया है, उन पर श्रद्धा होना अनिवार्य है। अतएव श्रद्धा से विभूषित गुरु ही संगति करने के योग्य हैं। कहा है –

कामी तिर्या कपटी तिर्या, लोभी तिरन की आस।
सरड़ भक्त वे नहीं तिरे जाके पिण्ड नहीं विश्वास ॥

देखो, इलायचीकुमार जैसे कामी तिर गये, बड़े-बड़े क्रोधी भी क्षमा धारण करके तिर गये, लोभी ब्राह्मण भी तिर गया, मगर श्रद्धाहीन मनुष्य कभी नहीं तिर सकता।

श्रद्धा तो सामान्य रूप से सभी में होती है, यहां तक कि कोई-कोई लोग अपनी अश्रद्धा पर ही श्रद्धा रखते हैं, परन्तु यहां मेरा अभिप्राय उस शुद्ध श्रद्धा से है जो मिथ्यादृष्टि का नाश होने पर उत्पन्न होती है। मिथ्यात्व के हटने पर तत्त्वों के प्रति जो निर्मल आस्था होती है, वही सच्ची श्रद्धा है। ऐसी सच्ची श्रद्धा जिसे प्राप्त है, वह भाग्यशाली है। जिसे वह श्रद्धा प्राप्त नहीं है वह भाग्यहीन है, उसके लिए परम कल्याण का द्वार अभी नहीं खुला है। स्मरण रक्खो; बड़े-बड़े ज्ञानी रह जाएँगे और श्रद्धालु तिर जाएँगे।

जिसमें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है उसमें संयम का भी प्रादुर्भाव हो जाता है। संयम का अर्थ है विरति अर्थात् पापों का त्याग। सम्यग्ज्ञान का फल पापों का परित्याग करना ही है। कहा है—

ज्ञानस्य फलं विरतिः ।

अगर पापों को और पापों के फल को जान लेने पर भी उनको त्यागने की भावना उत्पन्न न हो तो मानना चाहिए कि अभी तक ज्ञान का वास्तविक फल प्राप्त नहीं हुआ है ।

जो संयमवान् होगा वह तपस्वी भी होगा । तप के बिना संयम टिकता नहीं है । इन्द्रियों को वश में रखने के लिए और मन की चंचलता को जीतने के लिए तपस्या की अनिवार्य आवश्यकता होती है । इन्द्रियों को जीतने के लिए अनशन, ऊनोदर, रसपरित्याग आदि बाह्य तपस्या की आवश्यकता है और मन का निग्रह करने के लिए स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि आभ्यन्तर तप की उपयोगिता है । इन सब को जीते बिना संयम का भली-भाँति पालन नहीं हो सकता । इसीलिए भगवान् ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बतलाया है । यहाँ यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि तप यद्यपि चारित्र का ही एक अंग है, चारित्र में तप का समावेश हो जाता है, फिर भी उसे चौथा साधन अलग बतलाने का प्रयोजन तप की महत्ता को प्रगट करना है । तपस्या की प्रधानता को सूचित करने के लिए ही तप को चारित्र से अलग गिनाया हैं ।

ज्ञान, दर्शन, संयम और तपस्या से विभूषित महामुनि जनता के साथ अधिक सम्पर्क नहीं बढ़ाते । वे जनता का पथ-प्रदर्शन करते हैं, उन्हें धर्म का उपदेश देते हैं, ज्ञान भी देते हैं, मगर यह सब एक सीमा तक ही करते हैं । जनकोलाहल से व्याप्त नगर में निवास करना उन्हें पसंद नहीं होता । जहां एकान्त हो, शान्ति हो और स्वाध्याय-ध्यान आदि में बाधा पहुँचाने वाले

कारण न हों, ऐसे नगर के वाहर वने हुए उद्यान आदि स्थानों में ही वे प्रायः निवास करना उचित समझते हैं। इसीलिए 'उज्जाणम्मि समोसढं' कहा गया है। हालाकि भगवान् ने एकान्त रूप से नगर में ठहरने की मनाई नहीं की है और क्षेत्र काल के अनुसार प्रवृत्ति करने का विधान किया है, फिर भी जहां तक वन सके, मुनियों को एकान्त शान्त वातावरण में ही रहना चाहिए। इससे उनकी साधना निर्विघ्न होती है।

भाइयो! आगम में साधु की यह कसौटी वतलाई गई है। इस कसौटी पर साधु को कस कर परख लो और जव वह सच्चा साबित हो तो उसे साधु समझ लो। उसी को सद्गुरु मानो। उसी को संसार से तारने वाला और स्व-पर का उद्धार करने वाला समझो। इस विषय में पक्षपात करना उचित नहीं है। ऐसा मत सोचो कि हमारे लिये तो वह नहीं, यही अच्छे हैं, फिर यह कैसे भी क्यों न हो! इन्हें अच्छा तो समझ रहे हो भाई, पर रत्न, रत्न ही रहेगा और कङ्कर कङ्कर ही रहेगा! तुम अपने कङ्कर को रत्न मान भी लोगे तो सन्तोष भले कर लो, मगर उससे रत्न का काम नहीं होगा। 'यह मेरा है और यह तेरा है' इस प्रकार का भेदभाव करने के लिए दुनिया में वहुत-सी चीजें हैं, अगर गुरु के विषय में भी यही भावाना रक्खोगे तो कैसा तुम्हारा उद्धार होगा? अतएव गुरु को तो उपर्युक्त कसौटी पर कस कर ही मानो। जिसमें सद्गुरु के लक्षण मौजूद हों, वही तुम्हारा गुरु होना चाहिए। कहा है—

सद्गुरु और कुगुरु दो जग में, इनकी ओलख करना।
गाय दूध से तरपत होवे, आक दूध से मरना॥

गाय का दूध भी दूध कहलाता है और आक का दूध भी दूध ही कहलाता है। मगर क्या दोनों सरीखे माने जा सकते हैं? उनका नाम और रूप सरीखा होने पर भी गुण भिन्न-भिन्न है। गाय के दूध से तृप्ति होती है, ताकत आती है और वह मर्त्यलोक का अमृत माना जाता है। और दूसरा दूध आकड़े का है जिसके पीते ही मनुष्य नीलाम बोल जाता है।

यही बात सद्गुरु और कुगुरु के सम्बन्ध में है। सद्गुरु भी गुरु समझे जाते हैं और कुगुरु भी गुरु समझे जाते हैं। दोनों का बाहर रूप भी एक सरीखा हो सकता है। कोई कैसा भी भेष बना सकता है, पर दोनों के गुणों में बड़ा अन्तर होता है। बुद्धिमानों और आत्मा का सच्चा हित चाहने वालों को उनकी पहचान करना चाहिए। कुगुरु जन्म-मरण की ओर घसीट ले जाता है और सद्गुरु जन्म-मरण के चक्र से बचा कर अमरत्व के मार्ग पर ले जाता है। जिनका मन जन्म-मरण के दुःख सहते-सहते ऊब गया हो और जो अजर अमर पद प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें सद्गुरु की खोज करके उन्हीं का चरण शरण स्वीकार करना चाहिए। जो स्वयं आत्म-ज्ञान से विमुख हैं, जिन्हें आत्म-कल्याण के मार्ग का पता नहीं है, संयम किस चिड़िया का नाम है, यह भी जो नहीं जानते हैं, जो राग-द्वेष से भरे हुए हैं, झूठ और कपट से परहेज नहीं करते, जो बढ़िया माल मसाले खाने की फिराक में रहते हैं, चटोरे हैं, व्यक्तिगत निन्दा करते रहते हैं भांग-तमाखू, सुलफा और गांजा सेवन करते हैं और ज्ञान-ध्यान की परवाह न करके मस्त पड़े मौज उड़ाते रहते हैं, ऐसे गुरुओं से तुम्हारा निस्तार कैसे होगा? निस्तार होना दूर रहा, उलटा पतन होगा।—

काला सांप काटे एक भव मरे,
पर कुगुरु की सेवा से अनेक भव मरे।

काला सांप काटेगा तो एक जन्म में ही मृत्यु होगी, कई जन्मों में वह मृत्यु का कारण नहीं हो सकता, मगर कुगुरु के चक्कर में पड़ गये तो वह अनन्त बार की मौत का कारण बन सकता है। काले साँप के विष का असर शरीर पर ही होता है, वह आत्मा का बिगाड़ नहीं कर सकता, मगर कुगुरु के विष का प्रभाव आत्मा पर होता है। अतएव गुरु बनाते समय बहुत सोच-समझ लेना चाहिए। और भी—

सोना पीतल सारखा, पीला की परतीत।
गुण अवगुण जाणे नहीं, सब को कहे अतीत॥

भाइयो! सोना भी पीला होता है और पीतल भी पीला होता है, फिर सोना किसे समझा जाय? पीलापन सोने की पहचान नहीं है। सोने की सच्ची पहचान करनी है तो सोने की विशेषताओं को समझने की चेष्टा करो। इसी प्रकार सुगुरु और कुगुरु का अन्तर समझने के लिए सुगुरु के लक्षणों को समझो। उन लक्षणों का जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ। गुण-अवगुण की पहचान नहीं करोगे तो याद रक्खो फूटी नाव पर चढ़े यात्री की तरह मँझधार में डूब जाओगे। कबीर कहते हैं—

आप ही डूबै किस को तारे, झूठा जिसका सरणा।
कहत कबीर सुनो भई साधो ऐसा गुरु नहिं करना॥

जो स्वयं डूब रहा है वह दूसरों को कैसे तार सकेगा? ऐसे गुरु-कहलाने वालों से तो गृहस्थ ही भले हैं! कई गृहस्थ नीति पूर्वक निर्वाह करते हैं, रात्रि-भोजन के त्यागी होते हैं, परस्त्री को माता-बहिन के समान समझते हैं, स्थूल, असत्य और चोरी के त्यागी होते हैं, उदार, दानी और धर्म प्रेमी होते हैं। कुगुरु में तो यह सब बातें भी नहीं पाई जाती। कोई अनाचार, दुराचार और दुर्व्यसन नहीं जिसका वे सेवन करने से परहेज करते हों। इसीलिए भगवान् ने फर्माया है—

संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तए ॥

—उत्तराध्ययन, ५

अर्थात्—किन्हीं-किन्हीं भिक्षा माँगकर पेट भरने वाले भिक्षुकों से गृहस्थ ही सयम में ऊँचे हैं। ऐसे लोग साधु कहलाते हुए भी गृहस्थ के बराबर संयम का पालन नहीं करते।

भाइयो! ऐसे कुगुरुओं के हवाले अपनी जीवन-नौका मत कर देना। उचित यह है कि सर्वप्रथम सद्गुरु की पहचान कर लो, परीक्षा कर लो। जब तुम्हें निश्चय हो जाय कि उनमें गुरु के योग्य गुण मौजूद हैं, वे तरन-तारन हैं तो फिर सम्पूर्ण भाव से उन पर विश्वास करो। विश्वास कर लेने के पश्चात् वे जो भी रास्ता बतलावें, उसी पर चलो। फिर तर्क-वितर्क मत करो। ऐसे करने से निश्चय ही तुम्हारा कल्याण होगा, तुम सिद्धि प्राप्त कर लोगे।

गुरु के मामले में चेलना रानी और श्रेणिक राजा के बीच कितनी खींचतान हुई थी? रानी चेलना जैनधर्म की अनुयायिनी

थी, पर श्रेणिक दूसरे धर्म के अनुयायी थे। श्रेणिक जैन मुनियों की निन्दा करते थे और उन्हें बुरा बतलाया करते थे। मगर चेलना पक्की श्राविका थी। राजा श्रेणिक की बातों का उस पर कुछ भी असर नहीं होता था। वह नम्रता किन्तु दृढ़ता से यही उत्तर देती—महाराज! जिस दिन आप कुगुरु और सुगुरु की ठीक ठीक पहचान कर लेंगे, उस दिन जैन मुनियों की हर्गिज निन्दा न करेंगे।

मैं जिन गुरुओं को मानती हूँ, वे संसार में आदर्श संयम के प्रतीक हैं। माननीय सदाचार की सर्वोत्कृष्ट भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं। उनका आचार ऐसा ऊँचा है जिसकी बराबरी हो ही नहीं सकती। वे पांच महाव्रतों का पालन करते हैं। पहला महाव्रत परिपूर्ण अहिंसा का पालन करना है। मन, वचन एवं काय से किसी भी जीव की हिंसा न करना, न कराना और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना उनका प्रथम आजीवन व्रत है। वृक्ष, वेल, फूल, पत्ता आदि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय मनुष्य के किसी भी जीव को वे किंचित् भी कष्ट नहीं होने देते। इस व्रत का भलीभांति पालन करने के लिए जैनशास्त्रों में सैकड़ों नियम और उपनियम हैं। सचित्त पानी का उपयोग न करना, पर के निमित्त बने हुए भोजन मे से बचा खुचा ग्रहण करके जीविका का निर्वाह कर लेना, पखा न करना, जमीन न खोदना, आग न जलाना, आदि आदि।

दूसरा महाव्रत असत्यभाषण का त्याग करना है। असत्यभाषण से बचने के लिए जैनमुनि बड़ी सावधानी से वाक्यों का प्रयोग करते हैं। उनके मुख से निरर्थक, अप्रिय, कर्कश,

मर्मवेधी और कठोर वचन नहीं निकलते। जिस बात में उन्हें सन्देह हो उसे निश्चयात्मक शब्दों में नहीं कहते। वे भविष्य की किसी भी घटना के सम्बन्ध में निश्चयात्मक शब्दों का प्रयोग नहीं करते। 'कल मैं विहार करूँगा, परसों अमुक बात होगी' इस प्रकार के निश्चित शब्द कदाचित् गलत भी साबित हो सकते हैं। अतएव वे इससे बचे रहते हैं।

तीसरा महाव्रत अस्तेय है। अस्तेय का अर्थ चोरी है। साधारणतया जगत्-व्यवहार में जिसे चोरी कहते हैं, उसके तो त्यागी वे होते ही हैं, परन्तु जिसे लोग चोरी ही नहीं समझते, ऐसी सूक्ष्म चोरी के भी वे पूर्ण त्यागी होते हैं। दांत खुजाने के लिए तिनका भी वे बिना आज्ञा लिए नहीं उठाते। रास्ते की धूल को उठा लेना भी उनकी निगाह मे चोरी है। जैन मुनि मन, वचन और काय से ऐसी स्थूल और सूक्ष्म चोरी के त्यागी हैं।

चौथा महाव्रत ब्रह्मचर्य है। इस विषय में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। जैन मुनि पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालक होते है। इस व्रत में किसी प्रकार की कमी न हो जाय, यह सोच कर वे अनेक सहायक नियमों का भी पालन करते है। पौष्टिक भोजन न करना, स्त्रियां जिस मकान में रहती हों उस मकान मे न रहना, अकेली स्त्री से बात-चीत न करना, रात्रि मे अपने स्थान से बाहर न जाना और न स्त्री को अपने स्थान में आने देना, अल्पाहार करना, स्त्रियों के अंगोपांगों का—सौन्दर्य का वर्णन न करना और न सुनना, आदि-आदि अनेक नियम शास्त्रों मे वर्णित हैं।

पांचवां महाव्रत अपरिग्रह है। अपरिग्रह के सम्बन्ध में शास्त्र कहते हैं—

अवि अप्पणो वि देहंमि नायरन्ति ममाइयं ।

अर्थात्—धन-दौलत, महल-मकान आदि दूर की चीजों को तो जाने दीजिए, अपने शरीर पर भी जैन मुनि ममत्त्व नहीं रखते हैं। जब शरीर की भी ममता नहीं रखते तो दुनिया की अन्यान्य वस्तुओं पर क्या ममता रखेंगे ? पैसा-टका उनके पास नहीं होता, हाथी-घोड़ा वे नहीं रखते, मठ और मंदिर उनके नहीं होते ! यहां तक कि अगले दिन के लिए भोजन और पानी तक का संग्रह करके वे नहीं रखते। जैसे पक्षी अगले दिन के भोजन की चिन्ता नहीं करते, उसी प्रकार जैन साधु भी अगले दिन की चिन्ता नहीं करते। बीहड़ और जङ्गली रास्ते से उन्हें जाना है, पता है कि रास्ते में भोजन मिलने की कोई संभावना नहीं है, फिर भी वे एक दिन पहले अधिक लेकर संग्रह नहीं करेंगे। रास्ते में निराहार रह लेंगे, अनशन कर लेंगे, पर संचय नहीं कर रक्खेंगे। जो मुनि भोजन भी अपने पास संग्रह करके नहीं रखते, वे धन दौलत कैसे रखना चाहेंगे ?

चेलना रानी फिर कहती हैं—जैन मुनि ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार का भलीभांति पालन करते हैं। अर्थात् वे निरन्तर ज्ञानाभ्यास में संलग्न रहते हैं, श्रद्धावान् होते हैं, चारित्र-परायण होते हैं, तपस्या करते हैं और संयम में पुरुषार्थ करने वाले होते हैं।

जैन मुनियों की बहुत मोटी पहचान यह है कि वे ईर्या-समिति से चलते हैं। आगे की चार हाथ भूमि को देखते हुए—नीची निगाह रखकर चलते हैं। पहले तो इसी लक्षण से पता चल जाता है कि इनमें साधुता है या नहीं ?

भलीभांति सोचे-विचारे बिना वे नहीं बोलते। कदाचित् असावधानी से कोई बात मुँह से निकल जाती है तो वे स्वेच्छा से प्रायश्चित लेते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

एक साधु रावले (ठाकुर के अन्तपुर) में गोचरी के लिए गये तो देखा कि ठकुरानी रो रही है। उसका पति लड़ाई पर गया हुआ था। ठकुरानी ने साधु को देख कर 'पधारो महाराज' कह कर स्वागत किया, पर उसका चित्त अत्यन्त खिन्न था। उसने कहा—महाराज, न मालूम कब पति के दर्शन होंगे!

मुनि को ठकुरानी का पतिप्रेम देखकर दया आ गई। उनके मुख से निकल गया—फिकर मत कर बाई, तेरे पति सातवें रोज आकर मिल जाएँगे।

सचमुच सातवें दिन उसके पति आ पहुँचे। घर में प्रसन्नता फैल गई। रसोई तैयार हुई और ठाकुर साहब जीमने बैठे कि उसी समय वह भविष्यवाणी करने वाले महाराज पधार गये। उन्हें देख ठकुरानी बहुत प्रसन्न हुई। वह समझती थी कि इन्हीं के प्रताप से मेरे पति का आगमन हुआ है। अतएव ठकुरानी ने जो थाल पति के लिए परोसा था, वह मुनि को देने के लिए लाई। यह हाल देखकर ठाकुर को ईर्षा हुई। उसे बड़ा क्रोध आया। बोला—यह साधुड़ा क्या मुझसे भी अच्छा है? और वह तलवार निकाल कर मारने दौड़ा। तब ठकुरानी ने कहा—यह क्या करते हो? मुनिजी ने कहा था कि आप सातवें दिन पधार जाओगे। इस प्रकार इनके प्रताप से ही आप पधारे हैं।

ठाकुर—अच्छा, तेरे गुरु ऐसे भविष्यभाषी हैं क्या? और

इसके बाद उसने मुनि से पूछा—बताइए महाराज, मेरी घोड़ी के बछेरा होगा या बछेरी ? और उसका रूप-रंग वगैरह कैसा होगा ?

मुनि—बछेरा होगा और वह लाल रंग का होगा। उसके चारों पैर सफेद रंग के होंगे और लाल तिलक होगा।

ठाकुर इतना सुनते ही घोड़ी के पास गया और उसे मार डाला। उसके पेट से बछेरा निकाला तो सचमुच ही मुनि ने जैसा बतलाया था उसी तरह का निकला। ठाकुर ने मुनि से कहा—महाराज, आपकी बात सच्ची है।

इधर मुनि को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे सोचने लगे—गजब हो गया! मेरा तो साधुपन ही लुट गया! घोड़ी के भी प्राण गये और बछेरा भी मारा गया, मुझे क्या लेना-देना था ? लोग कर्म से ही डूबते हैं और कर्म से गिरते हैं। मैं किस झगड़े मे पड़ गया ? इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए मुनि चले गये। इसीलिए साधु को दुनियादारी की बातों में न पड़ने के लिए कहा गया है।

साधु को दुनिया से क्या सरोकार है ? साधु को जो चीज अभीष्ट है, जिसके लिए उसने साधुता स्वीकार की है, वह वस्तु तो उसे अपने आप से ही प्राप्त होने वाली है। राजा या सेठ-साहूकार या और कोई भक्त वह दे नहीं सकता। गृहस्थ राजी हो जायगा तो क्या दे देगा ? बहुत बहुत करेगा तो प्रशंसा कर देगा, मगर प्रशंसा से क्या पेट भरता है ? अपनी प्रशंसा सुनने से क्या साधु का महान् मनोरथ सिद्ध हो जायगा ? नहीं, अगर अपनी प्रशंसा सुन कर फूल जायगा तो मनोरथ-सिद्धि में उलटी बाधा ही पड़ेगी। साधु को तो अपनी आत्मा का ही सन्तोष करना

चाहिए और आत्म सन्तोष का असली मार्ग पाप से बचना है। उसे अपने लक्ष्य को ही सदा सामने रखना चाहिए। संसार की आग से निकल कर साधु बने और फिर भी अगर प्रपंच में पड़ गये तो साधु होकर भी क्या लाभ उठाया? ऐसा करने से सिद्धि कैसे मिलेगी?

महारानी चेलना ने कहा—मेरे गुरु न किसी को शाप देते हैं और न आशीर्वाद देते हैं। न किसी पर राग करते हैं, न द्वेष करते हैं। कोई स्तुति करे तो राजी नहीं होते और निन्दा करने वाले पर नाराज नहीं होते। आगम भी यही कहता है:—

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स; सामण्णमणुचिट्ठइ ॥

—दश० अ० ५, गा० १

अर्थात्—साधु को देखकर गृहस्थ यदि नमस्कार न करे तो साधु उस पर कोप न करे। इसके विपरीत राजा महाराजा आदि प्रतिदिन पैरों में मस्तक झुकावें तो चित्त में अहकार न लावे। दोनों ही अवस्थाओं में समभाव रक्खो। ऐसा आचरण करने वाले का साधुपन टिकता है।

साधु को सोचना चाहिए कि अगर कोई वंदना करता है तो मुझे इससे क्या लाभ है? लाभ होगा तो वन्दना करने वाले को ही होगा। किसी के वन्दना करने से मुझे मोक्ष नहीं मिलने वाला है। मोक्ष तो अपनी करनी से ही मिलता है। अगर कोई मुझे वन्दना नहीं करता तो इससे मेरी हानि ही क्या है? इससे मेरा मोक्ष होना नहीं रुक जायगा। मेरी आत्मा की पवित्रता

और अपवित्रता मेरे कर्त्तव्य पर निर्भर है, किसी दूसरे के व्यवहार से मेरा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है !

आत्मा का कल्याण समभाव से ही हो सकता है। आदर और अनादर को जो समान भाव से देखता है, वही सच्चा साधु है, वही तपस्वी है और उसी ने राग-द्वेष को जीता है। जो आदर पाकर प्रसन्न होता है और अनादर होता देख कुपित हो जाता है, वह पामर पुरुष वृथा ही कष्ट सहन करता है। वह अपने विषम भाव के कारण आत्मा का कल्याण करने में समर्थ नहीं हो सकेगा।

जब कोई वन्दना और नमस्कार करे तो साधु को विचार करना चाहिए कि यह वन्दन नमस्कार मुझे नहीं, तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्ररूपित संयम को है। लोग संयम की ही पूजा करते हैं। अतएव मुझे अभिमान का सेवन न करके संयम को बढ़ाने का ही प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा विचार करने से साधु के मन में अभिमान न होगा, बल्कि संयम को अधिक श्रेष्ठ बनाने की भावना उत्पन्न होगी।

अपने गुरु का आचार बतलाते हुए चेलना ने श्रेणिक से कहा—महाराज, ऐसे संयमनिष्ठ और चरित्रपरायण महात्माओं को ही अपना गुरु बनाइए। ऐसे गुरु ही भव-समुद्र में जहाज के समान आलम्बनरूप हैं। इनका आश्रय लेने से आत्मा का कल्याण होग ।

श्रेणिक बोले—तुम्हारे गुरु साफ सुथरे नहीं रहते। मलिन होते हैं। जिनका बाह्य रूप मलिन है, उनके अन्तरंग का क्या ठिकाना है कि वह उजला ही होगा या नहीं ?

चेलना—आपका विचार गभीर नहीं है। शरीर की मलिनता को आप घृणास्पद समझते हैं किन्तु आपने कभी शरीर के सबंध में गहरा विचार किया है? यह शरीर किन चीजों से बना है? इसके भीतर क्या-क्या भरा हुआ है? रज और वीर्य के सम्मिश्रण से इसकी उत्पत्ति होती है और ससार में जितनी भी घृणास्पद चीजें समझी जाती हैं, उन सब का यह भडार है। कहा भी है:—

रुधिर मांस चर्बी पुरीष की है थैली अलवेली,
चमड़े की चादर ढंकने को सब शरीर पर फैली।
प्रवाहित होते हैं नव द्वार,
हंस का जीवित कारागार ॥
निकल रहा है जिस भोजन से सौरभ का गुब्बार,
किसकी संगति से षट रसमय स्वादपूर्ण आहार।
पलक में बन जाता नीहार। हंस का...

महाराज! आप शरीर की सफाई की हिमायत करते हैं, मगर शरीर क्या ऐसी वस्तु है जिसकी कभी सफाई हो सके? कोयला धोने से अगर सफेद हो सकता हो तो स्नान करने से यह शरीर शुद्ध हो सकता है। परन्तु—

सागर का सारा जल लेकर धो डालो यह देह,
फिर भी बना रहेगा ज्यों का त्यों अशुद्धि का गेह।
न शुचि होगा यह किसी प्रकार,
हंस का जीवित कारागार।

यह शरीर की असली स्थिति है। अतएव तन की शुद्धता की उपेक्षा करके मन को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करना ही उचित है। ऊपर ऊपर से शरीर साफ सुथरा कर लिया और मन मलिन ही बना रहा तो इससे क्या लाभ है ?

मन मैला तन ऊजला, बगुला जैसा ढंग।
इससे तो कौवा भला तन-मन एकहि रंग।

महाराज ! जो तन से मैले होकर भी मन से उजले हैं, वे तिर जाते हैं और दूसरों को भी तार देते हैं। किन्तु जो ऊपर से उजले हैं और मन से मैले हैं, वे न स्वयं तिरेंगे और न दूसरों को ही तार सकेंगे।

राजा ने मन ही मन सोचा—रानी अपने गुरु की बड़ी तारीफ करती हैं तो इन्हें नीचा दिखलाना चाहिए और बतला देना चाहिए कि तुम्हारे गुरु कैसे झूठे और अज्ञानी हैं। यह सोचकर राजा ने जमीन में एक गड्हा खुदवाया और उसमें बकरी गड़वा दी। ऊपर से रेत वगैरह डलवाकर जमीन बराबर करवा दी। राजा ने सोचा—जब रानी के गुरु आएँगे और इसके ऊपर से निकल जाएँगे तो मैं कहूँगा-जीवों की दया पालते हो तो इसके ऊपर होकर क्यों निकल गये ?

रानी को यह सब हाल मालूम हो गया। जब मुनिराज पधारे तो रानी ने उनकी ओर देखकर तीन उगलियां दिखाकर इशारा कर दिया। रानी का अभिप्राय यह था कि अगर आप मति, श्रुत और अवधिज्ञान के धारक हों तो आइए, नहीं तो मत आइए। इसके उत्तर में मुनिराज ने चार उँगलियाँ दिखला दीं।

उन्होंने सूचित कर दिया कि मैं चार ज्ञान का धारक हूँ। चिन्ता मत करो। इसके बाद मुनिराज आगे बढ़े और उस गड़हे के पास खड़े हो गये।

राजा श्रेणिक जब जैनधर्मानुयायी नहीं था तब भी जैन मुनियों के साथ सद्व्यवहार करता था। उसका हृदय तुच्छ नहीं था। अतएव मुनि को खड़ा देखकर उसने कहा--पधारिये महाराज! आपकी उपासिका चेलना आपकी प्रतीक्षा कर रही है।

मुनिराज बोले--मैं आगे किस प्रकार आ सकता हूँ। यहां नीचे तो दो पंचेन्द्रिय जीव हैं।

राजा ने सोचा--यह झूठ है। मैंने तो सिर्फ बकरी को ही गड़वाया है। मुनि को अभी झूठा साबित कर दूंगा।

आखिर उसी समय गड़हा साफ किया गया तो देख कर राजा के आश्चर्य का ठिकाना न था। सचमुच ही वहाँ एक नहीं दो प्राणी थे। बकरी ने बच्चा दे दिया था।

राजा श्रेणिक समझ गये कि यह साधु पक्के हैं, परन्तु रानी के सामने अपनी पराजय स्वीकार कैसे कर लेते? यह कोई अनोखी बात नहीं है। आज भी बहुत से लोग ऐसे मिलेंगे जो सत्य बात समझते हुए भी लोकभीति पक्षपात या ममता के कारण उसे खुल कर स्वीकार नहीं करते। 'यह मेरा है' इस प्रकार की भावना बहुतों को सत्य का आश्रय लेने से रोक देती है। परन्तु धर्म के मामले में यह भावना अत्यन्त हानिकारक है। दुनिया की वस्तुओं के विषय में तेरा-मेरा का भाव क्षम्य हो सकता है, मगर धर्म के मामले में नहीं। जो मनुष्य सत्य का पूर्ण पक्षपाती है,

जिसने सत्य के समक्ष अन्य वस्तुओं को तुच्छ समझ लिया है, जो असत्य से विमुख होकर एक मात्र सत्य को ही शरणभूत मानता है और सम्पूर्ण भाव से सत्य का ही आश्रय लेने का निश्चय कर लिया है, वह अपने माने हुए सत्य को जब असत्य समझ लेता और वास्तविक सत्य को समझ लेता है तो असत्य का त्याग और सत्य को स्वीकार करने में पल भर भी विलम्ब नहीं लगाता। परन्तु ऐसा करने के लिए साहस चाहिए, दृढ़ता चाहिए, लगन चाहिए और सत्य के प्रति अनन्य एवं अविचल निष्ठा होनी चाहिए।

विषमभाव से बच कर आत्मा के उद्धार के लिए धर्म का आश्रय लिया जाता है और जब धर्म के विषय में ही विषमभाव उत्पन्न हो जाय तो फिर आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता। अतएव धर्म के क्षेत्र में विषमभाव मत रक्खो। जिद मत करो। हमने जो समझा और माना है वही सत्य है, इस अहंकार को त्यागो और अन्तरात्मा जिसे स्वीकार करती हो, जो परमार्थतः सत्य हो, उसी को स्वीकार करो।

पर उस समय तक राजा श्रेणिक में इतनी ऊँची भावना का विकास नहीं हुआ था। अनाथी मुनि का निमित्त पाकर, आगे चल कर उसमें ऊंची भावना जागृत हुई। सत्य के प्रति समर्पित होने का साहस विकसित हुआ और तब वह दयाधर्मी बन गया। श्रेणिक महाराज जिस दिन जैनधर्मी बने, उस दिन महारानी चेलना को असीम आनन्द हुआ। वह सोचने लगी—आज कितनी प्रसन्नता की बात है कि मैं और मेरे पति-दोनों एक धर्म के अनुयायी हैं।

महाराजा श्रेणिक ने दयाधर्मी बनकर आदेश दिया कि हमारे देश में कोई कसाईखाना चालू नहीं रहना चाहिए !

भाइयो ! अधर्मी और धर्मी में रात-दिन का अन्तर होता है। अधर्मी का जीवन अन्धकारमय है तो धर्मी का जीवन प्रकाशमय होता है। राजा प्रदेशी का उदाहरण लीजिए। जब वह अधर्मी था और उसका अन्तःकरण पापों की कालिमा से कलुषित था, तब उसके कृत्य कितने क्रूरतापूर्ण होते थे ? हंसी मजाक में किसी भी प्राणी के प्राण लूट लेना उसके बाएं हाथ का खेल था। वह मनुष्यों के प्राण ले लेने में भी संकोच नहीं करता था। उसके हाथ खून से भरे रहते थे। समस्त प्रजा उससे दुःखी थी। परन्तु चित्त प्रधान की प्रेरणा से केशी स्वामी ने उसे धर्म का उपदेश दिया। संयोग की बात है कि स्वामीजी का उपदेश असर कर गया। उसमें विवेक जागा। धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। फिर वह धर्मप्रेमी बन गया। उसने अपने सात हजार गांवों की आमदनी का चौथा हिस्सा परोपकार में लगा दिया।

राजा प्रदेशी ने अपनी आय का चौथा भाग परोपकार में लगाया था, पर आप कितना लगाते हैं ? मदनगंज (अजमेर) में गुलराजजी नामक एक सेठ थे। उन्होंने अपनी आमदनी का आधा भाग परोपकार के कार्यों में लगाने का संकल्प किया था। कल्पना करो, आपके सामने रुपयों का ढेर लगा है। आपको खुली छुट्टी मिल गई है कि जितना आप से उठ सके, उतना रुपया आप उठा ले जाइए। ऐसी दशा में क्या आप कोताई करेंगे ? शक्ति से अधिक ही उठा ले जाने का प्रयत्न करेंगे, कम नहीं ले जाएंगे। फिर धर्म करने में कमी क्यों करते हो ? भाइयो ! धर्म

परम धन है। इसका जितना ही अधिक संग्रह कर लोगे, उतना ही अधिक सुख पाओगे। बल्कि आगे जाने पर यही धन काम आएगा। खूब करो तपस्या, खूब करो सामायिक; खूब करो परोपकार और खूब सावधान रहो कि जीवन के किसी भी क्षेत्र में अनैतिकता न आने पाए।

बहिनों को भी मैं सावधान करता हूँ। गाड़ी के पहिया के बराबर गोखरू पहन लोगी तो भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होने का। यह गोखरू साथ नहीं जाएँगे। हां, इन्हें साथ ले जाना हो तो इनका त्याग कर दो, परोपकार मे इन्हें लगा दो। नहीं तो खाली हाथ जाना पड़ेगा और पछताना पड़ेगा।

> सात गांठ लंगोट के, नहीं भात में लोन।
> हिरदे में जिनवर वसे, लखपती बापड़ा कौन?

अर्थात् जिसने धर्म रूपी धन की ढेरी पर अधिकार कर लिया है, जो पक्का ब्रह्मचारी है और स्वादहीन सादा भोजन करता है, जिसके हृदय में जिनेन्द्र भगवान् निरन्तर निवास करते हैं, वह अक्षय सम्पदा का धनी है। उनकी सम्पदा जन्म-जन्मातर में भी उसका साथ नहीं छोड़ सकती। बेचारा लखपति उसके सामने क्या चीज है?

भाइयो! इस पौद्गलिक सम्पत्ति के मोह में क्यों पड़े हो? इससे तुम्हारी आत्मा का लेश मात्र भी कल्याण नहीं होगा; बल्कि यह अकल्याण का कारण बनेगी। आत्मिक धन, भावधन या चेतनधन को प्राप्त करने एवं बढ़ाने का ही प्रयत्न करो। उससे सुख पाओगे। जो महाभाग चेतनधन से सम्पन्न होते हैं, धर्म-

धन के धनी होते हैं, उनके सामने लखपति, करोड़पति, राजा, चक्रवर्त्ती और यहां तक कि देवता भी नतमस्तक होते हैं।

देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।

और इस जड़ धन में क्या रक्खा? इससे तुम्हारा कुछ भी कल्याण न होगा।

कौड़-कौड़ी माया जोड़ी, लाखों ऊपर करोड़ रे।
मरती बिरियां जीवड़ा, थारो लेगा कन्दोरो तोड़ रे॥

युद्धजन्य इस मँहगाई के जमाने में कई-एक लखपति हो गये हैं, कई लखपति करोड़पति कहलाने लगे हैं, पर मरने के बाद सारा धन छिन गया और ऊपर-नीचे लकड़ियाँ लगा कर सुलगा देंगे! करोड़ों का माल यहीं रह जायगा। कमर में पहना हुआ कन्दोरा भी साथ नहीं ले जाने पाएगा। एक अंगूठी भी साथ नहीं ले जा सकेगा।

किसी गांव में एक श्रावक रहता था। वह एक बार बीमार हो गया और जरा-सा ठंडा पड़ गया उसका शरीर। मन्ना नामक उसका लड़का था। उसने ओढ़ी हुई शाल उतारली कि इतने में उस श्रावक को होश आ गया। जब उसने यह हाल देखा तो कहा—अरे मुन्ना! अभी तो मैं जिन्दा हूँ। अभी से शाल क्यों खींचता है? जीवित रहते भी शाल खींचली तो मरने के बाद क्या नहीं करेगा? वास्तव में इसमें तेरा दोष भी क्या है? यह तो दुनिया की चाल ही है! महाराज सही कहते थे। उनके कथन की सचाई का आज साक्षात् अनुभव हो गया।

भाइयो ! मनुष्य का शरीर पाकर पेट भर लेने में कोई बड़ाई नहीं है। पेट तो कौवा और कुत्ता भी भर लेते हैं। मनुष्य-जीवन पाकर कुछ ऊंचा काम करो, आत्मा के कल्याण की ओर ध्यान दो। ज़रा विवेक का उपयोग करो। संसार के असली स्वरूप को पहचानो। सर्वज्ञ, वीतराग प्रभु के कथन पर आस्था लाकर परलोक को सुधारने की ओर ध्यान दो। माया के जाल से बाहर निकलो। परोपकार करलो। सद्गुरु की खोज करो और उनके बतलाये मार्ग पर चलो। इस संसार में तुम्हारे सच्चे हितैषी सद्गुरु ही हैं। जैसे महाराजा श्रेणिक ने अन्त में सद्गुरु का शरण लेकर अपना जीवन सफल बना लिया, उसी प्रकार तुम भी अपना जीवन सफल बनाओ।

बहिनो ! तुम्हें भी अपने कर्त्तव्य की ओर ध्यान देना है। अपने आपको अबला समझ कर जीवन को तुच्छ मत समझो। नारी की शक्ति बड़ी जबर्दस्त है। मगध के महान् सम्राट श्रेणिक ने सारी शक्ति लगा दी, परन्तु चेलना अपने पथ से विचलित नहीं हुई। यही नहीं, वह अन्त में अपने पति को भी सत्पथ पर लाने में समर्थ हुई। ऐसी स्त्रियां सच्ची अर्धाङ्गना कहलाती हैं। जो स्वयं धर्मनिष्ठ होकर अपने मार्ग भूले पति को सुपथ पर ले आती हैं, उनका जीवन धन्य हो जाता है। अपने को विलास की सामग्री मत समझो। तुम्हारे भीतर वही आत्मा विद्यमान है जो मरुदेवी में थी, सीता में थी, द्रौपदी में थी और चेलना में थी। तुम अपने को हीन न समझो। तुम्हारी आत्मा भी अनन्त शक्ति से युक्त है। अपनी शक्ति को पहचानो, उसे विकसित करो। लोभ-लालच में मत पड़ी रहो। गहनों और कपड़ों में मत भूली रहो। अपने आत्मिक गुणों को बढ़ाने का प्रयत्न करोगी तो तुम्हारी सौ गुनी

शोभा बढ़ जाएगी। सोना तुम्हारी दृष्टि में तुच्छ होना चाहिए। तुम्हें भगवान् ने चार तीर्थों में गिना है। तुम्हारा पद छोटा नहीं है। कहीं भी रहो, किसी भी परिस्थिति में होओ, अपने धर्म पर दृढ़ रहो और दूसरों को भी धर्म पर दृढ़ करने का प्रयत्न करो।

बहिनों पर बड़ा उत्तरदायित्व है। प्रारम्भ में बालक उन्हीं के हाथों में रहता है और प्रारम्भ के संस्कार अन्तिम जीवन तक अपना असर बनाये रखते हैं। बहिनें चाहें तो उन्हें धर्म प्रेमी, नीतिनिष्ठ और सुसंस्कारी बना सकती हैं। घर के वातावरण को पवित्रतापूर्ण बनाये रखना उन्हीं का काम है। परन्तु ऐसा करने के लिए उन्हें स्वयं अपना जीवन ऊँचा उठाना चाहिए। जो बहिनें स्वयं वस्त्रों और आभूषणों के लालच मे पड़ी हैं, जो खाने और खिलाने के सिवाय अपने जीवन का और कोई लक्ष्य ही नहीं समझतीं, वे अपने महान् उत्तरदायित्व को किस प्रकार निभा सकती हैं? बहिनों! चेलना बनो! समझो, अपने आपको पहचानो।

जम्बूकुमार की कथा—

जम्बूकुमार अपनी स्त्रियों को यही बात समझा रहे हैं। वे कहते हैं कि मानव-जीवन जब पाया है और विचार करने की शक्ति भी पाई है तो हमें अपने कर्त्तव्य का विचार अवश्य करना चाहिए। यह जीवन भोगोपभोगों में समाप्त कर देने के लिए नहीं है। हमें इस जीवन का असली उद्देश्य समझना चाहिए, उस उद्देश्य की सिद्धि के उपायों का निर्धारण करना चाहिए और फिर उन उपायों को अमल में लाना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जब सद्गुरु का सहारा मिल जाय और अन्तःकरण में उस उद्देश्य के प्रति दृढ़तर आस्था हो। सौभाग्य से मुझे सुधर्मा स्वामी

जैसे निरीह; साधनाशील और दयालु गुरु का सुयोग मिल गया है। उनके चरण-कमलों में आश्रय पाकर मैं धन्य हो जाऊँगा। तुम्हारे लिए भी आत्मश्रेयस् का मार्ग खुला हुआ है। अतएव मोह में मत पड़ो। अपने वास्तविक कर्त्तव्य को समझो।

जम्बूकुमार कंचनसेना से कहते हैं—प्रिये! तुमने शंख फूंकने वाले किसान का उदाहरण दिया है। उससे तुम यह सिद्ध करना चाहती हो कि पत्नी की बात न मानने के कारण पति को हानि उठानी पड़ी, किन्तु किसान को जो हानि हुई उसका वास्तविक कारण उसका लोभ ही था। किसान ने अधिक माल हाथ लगने के लोभ में फंसकर ही बार-बार शंख फूंका था। इस प्रकार लालच करने के कारण ही उसने दु.ख उठाया। वास्तव में लालच अनर्थ का मूल है। लालच डुबाने वाला है। मैं इसे हेय समझ कर त्याग रहा हूँ। अतएव मेरे ऊपर यह दृष्टान्त लागू नहीं होता। मैं कहां लालच में फँस रहा हूँ?

तुमने उम्र की बात भी कही है। यह ठीक है कि योवन का वेग बड़ा ही प्रबल होता है, परन्तु वह वेग वास्तव में आता कहाँ से है? उस वेग का असली स्रोत क्या है, यह बात तुमने नहीं सोची। उस वेग का मूल आधार आत्मा है। आत्मा का ही वह वेग है। नदी में आया हुआ वेग बाढ़ का रूप धारण करके अनेक अनर्थ उत्पन्न कर देता है। मगर चतुर इंजीनियर बाँध बना कर और नहरें निकाल कर जब उस वेग को शान्त कर देते हैं या दूसरी तरफ मोड़ देते हैं तो वही लाभदायक बन जाता है। यही बात यौवन के वेग के विषय में भी समझो। विवेकवान् व्यक्ति यौवन के प्रबल वेग की दिशा बदल देते हैं। भोगोपभोगों की

दिशा से हटा कर उसे आत्म-कल्याण की दिशा में ले जाते हैं। तब वह अकल्याण के बदले लोकोत्तर कल्याण का कारण बन जाता है। अतीत काल में अनेक महापुरुष ऐसे हो गये हैं, जिन्होंने भर जवानी में योग धारण किया है। जीवन की तीन दशाओं में यौवनदशा ही सर्वश्रेष्ठ दशा है और उसे सर्वश्रेष्ठ काम में व्यतीत करना ही उचित है। वृद्धावस्था में शरीर की शक्ति क्षीण होने लगती है। अनेक प्रकार के रोग घेर लेते हैं। उस समय महत्त्वपूर्ण काम नहीं हो सकते। अतएव जीवन के इस स्वर्ण-काल में ही श्रेष्ठ कार्य कर लेना मनुष्य का कर्त्तव्य है। कंचन-सेना, एक उदाहरण सुनोः—

किसी जगह एक बड़ा जंगल था। उसमें तरह तरह के वृक्ष थे और राल के भी वृक्ष थे। उस जंगल में अनेक प्रकार के जगली जानवर भी रहने थे और बन्दर भी रहते थे। बन्दरों की लड़ाई जब होती है तो बड़ी भयानक होती है। उस जगल के दो बन्दरों में आपस में लड़ाई हुई। उसमें एक बन्दर लोहुलुहान हो गया। उसके सारे शरीर में जख्म हो गये। वह भागता-भागता राल के एक भरे हुए खड्डे में आया। उसे बहुत तेज प्यास लग रही थी। उसने खड्डे में हाथ डाला तो ठंडक मालूम पड़ी। वह भरपेट पी गया। फिर उसने उसमें लोट लगाई। ठंडक का अनुभव करके उसे बड़ा आनन्द आया।

ऐसा करने में राल उसके शरीर में चिपक गई। जब तक वह गीली रही तब तक तो कुछ नहीं, पर जब वह सूखने लगी और बाल चिपक गये तो चमड़ी खिंचने लगी। सारे शरीर में दर्द होने लगा। आखिर उसके हाथ-पैर भी मुड़ न सके और गर्दन

भी ज्यों की त्यों अकड़ कर रह गई। परिणाम यह हुआ कि वह टिपाँ-टिपाँ करके, भूख-प्यास का कष्ट सहता हुआ बड़ी वेदना के साथ मृत्यु को प्राप्त हुआ।

अब विचार करो कि बन्दर को प्राणों से क्यों हाथ धोना पड़ा ? उसने राल का पानी पिया, उसमे स्नान किया और आनद माना, इसी कारण बन्दर को अपनी जान गँवानी पड़ी।

इस ससार में भी राग-द्वेष की लड़ाइयां हो रही हैं। जैसे बन्दर प्यासा था, उसी तरह संसार के प्राणी भोगों के प्यासे हैं। बन्दर की तरह ही वे भी भोगोपभोगों में ही आनन्द मान रहे हैं। जैसे बन्दर को राल का पानी पीने के कारण मरना पड़ा, उसी प्रकार संसारी जीवों को भोग भोगने के फलस्वरूप मृत्यु का शिकार होना पड़ता है। अतएव भोगों से दूर भागने में ही कल्याण है। भोग विलासो से मुझे विरक्ति हो गई है। इनके परिणाम को मैंने समझ लिया है। अज्ञानी जीव ही इन्हें रुचिकर मानते हैं। यह भोग रोग के भंडार हैं। चेतना को मूढ़ बना देने वाले, आत्मा को पतित बनाने वाले, जीव को अभिशापमय बना देने वाले और समस्त आपदाओं को लाने वाले हैं। भोगों मे आसक्त हुआ जीव अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है। उसका विवेक नष्ट हो जाता है। वह अपनी आत्मा की ओर झाँक कर भी नहीं देख सकता। भोग चेतना को जड़वत् बना देते हैं। भोगों का संयोग भी दुखदायी है और उनका वियोग होने पर भी शोक और पश्चात्ताप होता है। भोगों की बदौलत भयानक व्याधियां चेट जाती हैं। विश्वास न होता हो तो अस्पताल में जाकर पूछ आओ। वहां कितने ही लोग भोग के फलस्वरूप

नरक-सी यन्त्रणाएँ भोगते हैं। कई लोग प्रकट रूप से कुछ कह नहीं सकते, मगर एकान्त में बैठ कर रोते हैं।

एक राजा अत्यन्त विषयी था। उसे ऐसी भयंकर बीमारी लागू हुई कि बम्बई में सारी गुप्तेन्द्रिय का आपरेशन कराना पड़ा! कहा है—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं; वित्ते नृपालाद्भयम्,
माने दैन्यभयं, बले रिपुभयं, रूपे जरायाभयम्,
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं, काये कृतान्ताद्भयम्,
सर्वं वस्तु भयान्वितं नृणां, वैराग्यमेवाभयम्,

यह भर्तृहरिजी का कथन है भर्तृहरि कहते हैं कि भोगों में रोग का भय बना रहता है। कोई कह सकता है कि रसगुल्ले अच्छे होते हैं, पर उस अच्छी चीज को अगर ज्यादा खा गये तो मौत हो जाती है।

जिसका कुल बड़ा है उसे किसी न किसी के मरने का डर लगा रहता है। इसके अतिरिक्त जो अपने कुल को बड़ा या ऊँचा समझता है, उसे अपने बड़प्पन से च्युत होने का भय बना रहता है।

जिसके पास कलदार ज्यादा हैं, उसे राजा से डर बना रहता है कि कहीं ज्यादा टैक्स न बढ़ जाय! अथवा ऐसा न हो कि राजा कुपित होकर सारा धन-माल लूट ले।

अभिमान करने में दीनता आने की सभावना रहती है। जो ज्यादा मानवान् होता है, उसे हमेशा यही चिन्ता रहती है कि

कहीं दैन्य न आ जाय—मान भंग न हो जाय।

ताकत ज्यादा हो तो भय रहता है कि कोई सवा सेर न मिल जाय, कहीं इज्जत न चली जाय! दूसरों के सामने बदनाम न होना पड़े! कोई शत्रु मेरे बल को नष्ट न कर दे।

जो रूपवान् है, अपनी सुन्दरता का अभिमान करता है, उसे बुढ़ापा आ जाने की चिन्ता लगी रहती है। बुढ़ापा शरीर के सौन्दर्य को लूट लेता है। शरीर को कुरूप कर देता है। जब वृद्धावस्था आती है तो बाल सफेद हो जाते हैं, मुंह पोपला हो जाता है, सारे शरीर मे झुर्रियां पड़ जाती है, चेहरे की कान्ति उड़ जाती है, अनेक प्रकार की बीमारियों के कारण शरीर जर्जर हो जाता है और भार रूप प्रतीत होता है।

जो बहुत पढ़ा-लिखा होता है उसे भय रहता है कि कहीं शास्त्रार्थ का मौका न आ जाय। गुणवान् को खल जनों से भय रहता है कि मुझे कोई लांछन न लगा दे। खल-जनों का स्वभाव ऐसा विलक्षण होता है कि वे दूसरे के गुणों को अवगुण के रूप में ही देखते हैं। अगर कोई क्षमाशील है तो उसे दब्बू कहते हैं, यदि आत्मगौरववान् है तो घमडी कहते हैं। कोई उदार और दानवीर है तो उसे उड़ाऊ कहने में सकोच नहीं करते। यदि कोई सोच-समझकर और अपनी स्थिति को देखकर मितव्ययिता से काम लेता है तो उसे कजूस कहकर बदनाम करते हैं इस प्रकार गुणों के विषय में खल-जन से भय बना रहता है। अधिक क्या कहा जाय, ब्रह्मचर्य जैसे सद्गुण को लेकर भी दुष्ट लोग अपवाद फैलाने में सकोच नहीं करते। कोई ब्रह्मचर्य पालता है तो उसे वे नामर्द कहने मे नहीं हिचकते। अगर ब्रह्मचर्य नहीं पालता है तो

उसे व्यभिचारी कहते हैं। वास्तव में ऐसे दोषान्वेषी मूर्खों से कोई नहीं जीत सकता।

एक पडितजी थे। वनारस से पढ़कर और अपनी पोथियां ऊँटों पर लाद कर चले जा रहे थे। ऊँट वाला कुछ पीछे रह गया था और पंडितजी आगे-आगे चल रहे थे। रास्ते में खेत के किनारे एक मूर्ख लम्वी डांग लिए खड़ा था। उसने पण्डितजी को देखकर पूछा—थूं कौण है ? पंडितजी ने कहा—मैं पंडित हूँ।

मूर्ख—पंडित का क्या मतलव है ?

पण्डित—जो आगे पीछे की सोचकर कहे उसे पंडित कहते हैं।

मूर्ख—अच्छा, सोच समझकर कहो कि यह डांग (लाठी) तुम्हारे सिर पर मारूँ, कमर में मारूँ या पैरों में मारूँ ?

पंडितजी यह सुनकर सिटपिटाये। सोचा—रास्ता चलते यह कमवख्ती खूब आई।

यह सोचते हुए पंडितजी वोले—मैंने जो कहा सो तुम समझे नहीं। मैंने कहा था कि जो पडित के पास रहने वाला हो। मैं तो पंडित के पास रहता हूँ।

मूर्ख—अच्छा, पडित कहाँ हैं ?

पण्डितजी—ऊंट लेकर आ रहे हैं। यहीं वैठ जाओ और जव आवें तो देख लेना।

मूर्ख लाठी लिये वहीं वैठ गया और पण्डितजी जान वचा कर आगे चले। सोचा—चलो जान वची ! मूर्ख के फंदे में से निकले।

इस प्रकार संसार की सभी वस्तुएँ भय से भरी हुई हैं। सारा संसार भयमय है। यहाँ कोई वस्तु अगर भयरहित है तो वैराग्य ही है। साधु बन जाने पर कोई भय शेष नहीं रह जाता।

तो जम्बूकुमार कचनसेना से कहते हैं—यह भोग रोग के घर हैं और वियोग की विषम वेदना देने वाले हैं। इनका सेवन करने से कभी किसी को शान्ति नहीं मिल सकती। भोग किसी को सुखी नहीं बना सकते। भोग अपावन हैं और आत्मा को अपावन बनाते हैं। वे स्वयं अशुचि हैं और आत्मा को भी अशुचि बनाने वाले हैं। भोगों में सुख शान्ति होती तो तीर्थंकर भगवान् उनका त्याग क्यों करते? उन्हें त्याग कर साधु क्यों बनते?

प्रिये! तुमने, भगवान् ऋषभदेव का उदाहरण दिया है। कहती हो कि भगवान् ने भोग भोगे थे और उनके सन्तान उत्पन्न हुई थी, किन्तु भगवान् विशिष्ट ज्ञानी थे। वे जन्म से ही अवधि-ज्ञान के धारक थे। उन्हें मालूम था कि मैं इतने दिनों तक गृहस्थावस्था में रहूँगा और फिर दीक्षा धारण करके अमुक समय पर निर्वाण प्राप्त करूँगा। ऐसा ज्ञान तुम्हें और हमें कहाँ है? हमें तो कल का भी पता नहीं है। कौन जाने कल तक जीवन स्थिर रहेगा भी अथवा नहीं? अतएव जैसे तीर्थंकरों ने हेय समझकर विषयभोगों का परित्याग कर दिया, उसी प्रकार मैं भी इनका परित्याग करना चाहता हूँ।

भोग भोगकर कर्मों का उपार्जन करने में तो ज्यादा देरी नहीं लगती किन्तु उनका फल भोगने में बहुत समय लगता है।

भाइयो! दूर क्यों जाते हो? हैदराबाद के रजाकारों के कारनामों को ही देख लो। उन्होंने कितने जुल्म किये, कितने अत्याचार और अनाचार किये! स्त्रियों को और बालकों को भी सताने में कोई कसर नहीं रक्खी। करोड़ों की सम्पत्ति लूटी। पुलिस उनसे कुछ कहती नहीं थी, क्योंकि वह भी उनसे मिली हुई थी। उस समय तो समझे कि मारो, काटो और लूटो! मगर जब पाप का घड़ा भर गया तो उनकी क्या दशा हुई? कासिम-रिजवी पकड़ा गया और अब जेलखाने में पड़ा-पड़ा सड़ रहा है! और उसके कुकर्मों का फल क्या यहीं समाप्त हो जाने वाला है? नहीं; मनुष्य जैसे प्राणियों की क्रूरभाव पूर्वक की हुई हिंसा का फल नरक के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? ठीक ही तो कहा है—

जुल्म की टहनी कभी फलती नहीं,
नाव कागज की कभी चलती नहीं।

कागज की बना कर और उस पर सवार होकर अगर कोई समुद्र पार होना चाहता है तो उसे पागल के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? इसी प्रकार जो जुल्म करके, पाप करके, फलना-फूलना चाहता है अर्थात् सुखी और सौभाग्यशाली बनना चाहता है, वह भी मूर्खों की कतार में ही खड़ा होने योग्य है। जैसे नीम के वृक्ष में आम के फल नहीं लग सकते, उसी प्रकार पाप में पुण्य के फल नहीं लग सकते। जैसे लाल मिर्च खाने से मुँह मीठा नहीं हो सकता, उसी प्रकार पाप करने से सुख नहीं मिल सकता।

बहुत से लोग पाप का आचरण करने वाले और धर्म की परछाईं से भी दूर भागने वाले लोगों को सुखमय स्थिति में देख कर गड़बड़ में पड़ जाते हैं। वे सोचते हैं कि जब पापी भी इस तरह सुख का उपभोग करते हैं तो पाप से परहेज करने से क्या लाभ है? मगर ऐसे लोग भ्रम में हैं। वर्त्तमान में मौज उड़ाने वाले और पाप का आचरण करने वाले लोग एक प्रकार के दिवालिये हैं, उड़ाऊ हैं। वे पहले उपार्जन किये हुए पुण्य का फल भोग रहे हैं, परन्तु नवीन पुण्य का बंध नहीं कर रहे हैं—भविष्य के लिए पाप का उपार्जन कर रहे हैं। वे अपनी संचित पूंजी को उड़ा रहे हैं और नवीन कमाई नहीं कर रहे हैं। उनका भविष्य घोर अंधकारमय होगा। अतएव वर्त्तमान को देखने मात्र से कोई फैसला मत कर लो और न यह समझ लो कि पाप का फल भी सुखद हो सकता है!

यही बात धर्मात्माओं के संबंध में भी समझ लेना चाहिए। अनेक धर्मनिष्ठ, नीतिपरायण और पापभीरु लोग भी संकट में पड़े हुए दिखाई देते हैं। पर वास्तव में वह संकट उनके धर्माचरण का फल नहीं है। उन्होंने पहले कभी जिस अधर्म का आचरण किया होगा, उसी का फल वे आज भोग रहे हैं। इस समय आचरण किये जाने वाले धर्म का मधुर फल उन्हें भविष्य में मिलने वाला है। उनका वर्त्तमान कैसा भी क्यों न हो, भविष्य महान् उज्ज्वल है। धर्म और पुण्य का आचरण न तो निष्फल ही हो सकता है और न विपरीत फलदायक ही हो सकता है। वह अवश्यमेव फल देगा और मंगलमय फल ही देगा। इसी प्रकार पापाचरण भी कभी निष्फल नहीं होगा और वह अपने अनुरूप अनिष्टकर फल ही देगा।

भाइयो ! मारकाट का फल कभी अच्छा नहीं हो सकता। लोग कहते हैं कि मानव-जाति प्रगति कर रही है, उसका ज्ञान बढ़ रहा है, संस्कृति और सभ्यता भी बढ़ रही है, मगर इस वृद्धि का पैमाना क्या है, यह समझ में नहीं आता। क्या सचमुच ही मनुष्य में मनुष्यता बढ़ रही है ? मगर मनुष्य अपनी मनुष्यता को गँवा कर ज्ञान का विकास कर रहा है तो वह ज्ञान उसके लिए घोर अभिशाप ही साबित होगा। होगा क्या, हो भी रहा है। आज दुनिया के देश एक दूसरे से अधिक संहारक साधनों की खोज में लगे हुए हैं और मारकाट के पक्षपाती हो रहे हैं। भला ऐसी स्थिति में सभ्यता और संस्कृति के विकास को कहाँ गुंजाइश है ? भगवान् महावीर ने कहा है कि किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाओ, यहां तक कि कष्ट पहुंचाने का विचार भी मन में मत उत्पन्न होने दो। जितने अंशों में भगवान् के इस सिद्धान्त का पालन होगा, उतने ही अंशों में शान्ति का संचार होगा। मैं तो दावा करके कहता हूँ कि मानव जाति की सर्वोच्च संस्कृति का विकास अहिंसा के विकास में ही अन्तर्निहित है। अहिंसा से बढ़कर और कोई संस्कृति नहीं हो सकती और अहिंसा को छोड़ कर तो संस्कृति जैसी वस्तु हो ही नहीं सकती। अतएव जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र ने अहिंसा की जितनी अधिक साधना की है, उसने अपनी संस्कृति का उतना ही अधिक विकास किया है। अहिंसा, संस्कृति की कसौटी है, आत्मा है। इस कसौटी पर आज की दुनिया को जब हम कसने जाते हैं तो निराश के सिवाय और क्या हाथ आता है ? गाँधीजी ने अहिंसा के महत्त्व को समझा था परन्तु उनकी क्षीण ध्वनि दुनिया के बहरे कानों तक नहीं पहुँची। फिर भी आशा के अस्पष्ट चिह्न दिखाई देते हैं।

हिंसा के आधार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करने वाले राष्ट्र भी आज हिंसा से ऊब से गये मालूम होते हैं। वे भी निशस्त्रीकरण की बातें करते हैं। सिर्फ यही आज आशास्पद स्थिति है।

आज के विभिन्न राष्ट्र अहिंसा की बातें करते हुए भी हिंसा का ही आश्रय क्यों लेते हैं? इस प्रश्न का उत्तर बहुत लम्बा है। इस पर फिर किसी दिन विचार करने की इच्छा है। नियत समय पूर्ण होने आ रहा है। अतएव सत्तेप में यही कहा जा सकता है कि संसार में जितने भी अनर्थ हो रहे हैं, उन सब के मूल में, प्रत्यक्त या परोक्त रूप में, स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में भोगों की अभिलाषा ही है। सांसारिक भोग ही सब अनर्थों की खान हैं।

जम्बूकुमार कहते हैं—कचनसेना, जीव को भोगों की अभिलाषा के कारण बहुत दु:ख उठाना पड़ता है। भोगों में उतना ही सुख है जितना तलवार की धार पर लगे हुए शहद को जीभ से चाटने से होता है। क्षण भर मिठास मालूम होती है परन्तु जीभ कटने के कारण लम्बे समय तक दु:ख उठाना पड़ता है। भोग भोगने से भी इह लोक में और परलोक में दु:ख ही दु:ख होते हैं।

इस प्रकार ओजपूर्ण वक्तव्य देकर जम्बू कुमार ने कंचन सेना का विषय-वासना रूपी जहर उतार दिया। वह अलग जाकर बैठ गई।

भाइयो! जम्बू कुमार की कथा और उनका वार्तालप आपके मनोविनोद के लिए नहीं है। आपको उनके जीवन से

कुछ सार ग्रहण करना है। अगर आप जम्बूकुमार का अनुकरण करके भोगों से विरक्त होंगे और आत्मानन्द को खोजेंगे तो आपको आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

ता० २१-६-४८